भारत की राष्ट्रीय संस्कृति

भारत– देश और लोग

भारत की राष्ट्रीय संस्कृति

एस. आबिद हुसैन

अनुवाद

दुर्गा शंकर शुक्ल

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

सैयदेन तथा अज़ीज़

की स्मृति में

विषय-सूची

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक, भारत की राष्ट्रीय संस्कृति में डा. एस. आबिद हुसैन ने भारतीय संस्कृति के प्रारंभ से अभी तक के विकास की मुख्य विशेषताओं की ओर संकेत किया है। विषय का प्रस्तुतीकरण उनकी योग्यता और उद्देश्य के प्रति दृष्टिकोण प्रकट करता है। वे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जीवन के संबंध में एक समान आध्यात्मिक दृष्टिकोण जिसमें विभिन्न जातियों और धर्मों का योगदान रहा है, "भारत का हजारों वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास दर्शाता है कि एकता का सूक्ष्म किंतु मजबूत धागा, जो उसके जीवन की अनंत विविधताओं में से होकर जाता है, सत्ता समूहों के जोर देने या दबाव के कारण नहीं बुना गया, बल्कि भविष्य दृष्टाओं की दृष्टि, संतों की चेतना, दार्शनिकों के चिंतन और कवि कलाकारों की कल्पना का परिणाम है, और केवल ये ही ऐसे माध्यम हैं, जिनका राष्ट्रीय एकता को व्यापक, मजबूत तथा स्थायी बनाने में उपयोग किया जा सकता है।" यह कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि हमारी सरकार को धर्म निरपेक्ष होना चाहिए, जबकि हमारी संस्कृति की जड़ें आध्यात्मिक मूल्यों में हैं। धर्म निरपेक्षता का यहां अर्थ अधार्मिकता, नास्तिकता या भौतिक आराम पर जोर दिया जाना नहीं है। उसका अर्थ यह है कि आध्यात्मिक मूल्यों की सार्वलौकिकता पर जोर दिया जाये, जिसे विभिन्न तरीकों से प्राप्त किया जा सकता है।

धर्म निरंतर परिवर्तित होते रहने वाला अनुभव है। यह कोई दैवी सिद्धांत नहीं है। यह एक आध्यात्मिक चेतना है। आस्था और आचरण, यज्ञ और अनुष्ठान, रूढ़िवादिता और अधिकार, आत्मावलोकन की कला तथा दैवी संबंधों के अधीन होते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मा को बाह्य गतिविधियों से बाहर निकाल लेता है और आंतरिक रूप से वह अपने को एकीकृत कर एकाग्रता से प्रयत्नशील होता है, तब उसे अजीब, आश्चर्यजनक, पवित्र अनुभव होते हैं, जो उसे स्वयं को गतिशील बनाते हैं, उसे बंधन में कर लेते हैं और उसकी स्वयं की एक सत्ता बन जाती है। जो तर्क और विज्ञान के मानने वाले हैं, वे भी आध्यात्मिक अनुभवों के तथ्यों को स्वीकार करेंगे, जो प्राथमिक और सकारात्मक हैं। हम धर्म विज्ञान के संबंध में मतभेद व्यक्त कर सकते हैं, किंतु तथ्यों से इंकार नहीं कर सकते। जीवन की आग उसके जलने के प्रकट रूप में सहमत होने के लिए लाचार करती है, किंतु आग के चारों ओर बैठे धुआं उड़ाने वालों के टटोलने और अंदाज लगाने से सहमति प्राप्त नहीं होती। उपलब्धि जबकि एक तथ्य है तो वास्तविकता का सिद्धांत एक संदर्भ है। वास्तविकता के साथ संबंध और उसके बारे में दृष्टिकोण के बीच,

दैवी रहस्य और ईश्वर के प्रति आस्था के बीच, अंतर है। यह राज्य की धर्म निरपेक्ष अवधारणा का अर्थ है, यद्यपि सामान्य तौर से वह समझ के परे है।

यह दृष्टिकोण भारतीय परंपराओं के समान ही है। ऋग्वेद के दृष्टा इस बात की पुष्टि करते हैं कि वास्तविकता एक ही है, जबकि विद्वान उसके बारे में विभिन्न तरह से बोलते हैं। अशोक राक एडिक्ट (xii) में अंकित करता है, "वह व्यक्ति जो अपने धर्म का सम्मान करता है, दूसरों के अपने धर्म के प्रति निष्ठावान रहने की निंदा करता है और दूसरे धर्मों की तुलना में अपने धर्म को श्रेष्ठ बताता है, वह निश्चित ही अपने स्वयं के धर्म का अहित करता है। वास्तव में धर्मों के बीच सामंजस्य ही श्रेष्ठ है।" 'समवाय इवा साधु'। सदियों के बाद अकबर ने व्यक्त किया—"विभिन्न धार्मिक समुदाय ईश्वर द्वारा हमें सौंपे गये दैवी खजाने हैं। हमें उसी रूप में उनसे प्रेम करना चाहिए। हमारा यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि प्रत्येक धर्म एक ईश्वरीय देन है। शाश्वत् नियंता सभी मनुष्यों पर बिना किसी भेदभाव के प्रेम की वर्षा करता है।" यही सिद्धांत है जो हमारे संविधान में समाहित है और जो सभी को अपने धार्मिक विश्वासों और अनुष्ठानों को व्यवहार में लाने और प्रचार करने की तब तक स्वतंत्रता देता है, जब तक कि वह नीतिपरक भावों के विपरीत नहीं होता। हम उस समान आधार को मान्यता देते हैं जिस पर विभिन्न धार्मिक परंपराएं अवलंबित हैं। इस समान आधार पर हम सभी का अधिकार है, क्योंकि इसका स्रोत शाश्वत् है। मूलभूत विचारों की एकरूपता जो हमें ऐतिहासिक अध्ययन एवं धर्मों की तुलना करने से ज्ञात हुई, भविष्य की आशा है। इससे धार्मिक एकता और समझ बढ़ती है इससे मालूम होता है कि हम सब एक अनदेखी ईश्वरीय संस्था के सदस्य हैं, चाहे भले ही ऐतिहासिक कारणों से, हम इस या उस विशेष धार्मिक समुदाय के सदस्य बन गये हों।

आबिद हुसैन ने राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किए हैं। हम उन्हें स्वीकार करें या नहीं किंतु सभी भारतीय चिंतकों द्वारा उन पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए।

एस. राधाकृष्णन

20 अप्रैल, 1955

प्रस्तावना

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का एक स्वतंत्र प्रजातांत्रिक शक्ति के रूप में उदय,जो परोक्ष में फ्रांस की क्रांति का कारण बना,एक ऐतिहासिक घटना थी। उसने आधुनिक प्रजातंत्र की क्षीण धारा को निरंतर बहने वाली विशाल नदी के रूप में गहरा और चौड़ा बना दिया। आज जबकि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजातांत्रिक आवेग, दुनिया के अनेक भागों में सूख सा गया है,नए भारतीय गणतंत्र का जन्म एक उल्लेखनीय घटना है जो स्वतंत्रता प्रेमियों के लिए एक नया संदेश लेकर आया है। किंतु यह आशा भी छाये हुए उस भय से मुक्त नहीं है कि भारत में प्रजातंत्र का उदय अपरिपक्व न सिद्ध हो जाये,जैसाकि कुछ अन्य एशियाई देशों में हुआ।

एशिया के विभिन्न देशों में प्रजातंत्र की पक्की जड़ें जमाने की असफलता के पीछे तीन मुख्य कारण हैं। कुछ में राष्ट्रीय व्यवस्था और ऐतिहासिक परंपराओं ने मिलकर प्रतिकूल स्थितियां उत्पन्न कीं। दूसरों में लोगों में न्यूनतम शिक्षा और राजनैतिक चेतना की कमी रही और एक या दो देशों में बाहर से प्रजातंत्र विरोधी शक्तियों ने अवरोधात्मक प्रभाव डाला। भाग्य से भारत में इनमें से कोई भी बाधा इतनी बड़ी नहीं है जो प्रजातांत्रिक प्रयोग के लिए वास्तविक खतरा बन सके। भारतीय मस्तिष्क के लिए प्रजातंत्र का विचार नया नहीं है। यद्यपि प्राचीन भारत को प्रतिनिधि सरकार की वर्तमान व्यापक प्रणाली का कोई ज्ञान नहीं था, किंतु ग्रामीण स्तर पर आदिम प्रजातांत्रिक प्रणाली प्रचलित थी। अधिकतर लोग अशिक्षित हैं, किंतु व्यावहारिक ज्ञान तथा नागरिक भावना में पीछे नहीं हैं,जो प्रजातंत्र को आधार देते हैं। स्वतंत्र भारत के प्रथम चुनाव में,जो मानव इतिहास में सबसे बड़ा था, यह पर्याप्त रूप से प्रमाणित हो गया। जहां तक बाह्य प्रभावों का संबंध है,वे कुल मिलाकर प्रजातंत्र के लिए अनुकूल हैं। हमारे नये प्रजातंत्र को एक मात्र खतरा, जो देखने वाले को सामान्य लगता है, कितु बड़ा खतरा है, यह है कि भारतीय राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय संस्कृति सूक्ष्मता से संतुलित बनाई गयी विविधता में एकता की पद्धतियां हैं और यदि यह संतुलन सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान में गलत व्यवहार से टूटता है तो भयानक विघटन की स्थिति आ सकती है, जिससे न केवल प्रजातात्रिक पद्धति का बल्कि समस्त शांति और व्यवस्था का अंत हो जायेगा, तथा कठिनाई से प्राप्त की गयी हमारी आजादी आंतरिक या बाह्य तानाशाही शक्तियों के द्वारा समाप्त कर दी जायेगी।

भारतीय राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीय संस्कृति के पिछले विकास और वर्तमान स्थिति का अध्ययन करने तथा उनकी एकता को मजबूत बनाने तथा सुरक्षित करने के उपायों पर

विचार करने के लिए, वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से इस महत्वपूर्ण समस्या की, जहां तक संभव हो, विवेचना करना इस पुस्तक का उद्देश्य है।

यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि जब यह पुस्तक पहले उर्दू में लिखी गयी थी, तब भारत का दो स्वतंत्र राज्यों के रूप में विभाजन नहीं हुआ था और मेरे द्वारा संपूर्ण अविभाजित भारत की स्थिति का पुस्तक में समावेश किया गया था। देश के विभाजन ने, जो मुख्यतः सांस्कृतिक विघटनकारी शक्तियों के कारण हुआ, प्रथमतः यह सिद्ध कर दिया कि मेरे द्वारा जो आशंकाएं व्यक्त की गयी थीं, वे वास्तविक थीं और दूसरी स्थिति में यह आवश्यक बना दिया कि विवेचना को मुख्य भारत तक ही सीमित रखा जाये, जो अविभाजित भारत की सांस्कृतिक परंपराओं की मुख्य उत्तराधिकारी है। किंतु मेरे द्वारा इस बात पर जोर दिया जाना जरूरी है कि मैं संपूर्ण उपमहाद्वीप को एक सांस्कृतिक इकाई मानता हूं। (शब्द के व्यापक अर्थ में) जिसके दो भाग एक दूसरे से, केवल समान ऐतिहासिक एवं भौगोलिक कारणों से नहीं बल्कि हजारों आंतरिक बंधनों से, ऐसे घनिष्टता से संबद्ध हैं, कि उनकी वर्तमान रूप में कुल अलगाव की स्थिति अधिक समय तक नहीं चलेगी और एक दिन ऐसा आयेगा कि, यदि कनाडा के समान विधिवत् संघ नहीं बनता, तो उन्हें कम से कम संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कनाडा की तरह एक महासंघ बनाना पड़ेगा।

मैं राकफेलर फाउंडेशन के प्रति अत्यधिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं, जिसकी सहायता ने मुझे निजी और सार्वजनिक चिंताओं से दूर, मोहक भौगोलिक तथा मानसिक उत्साहवर्द्धक आबोहवा के जर्मनी के सुंदर छोटे ट्वीगेन नगर में यह पुस्तक लिखने में समर्थ बनाया। डा. ताराचंद जी, जिन्होंने इस टाइप की हुई पांडुलिपि को देखा तथा गल्तियों को सुधारा और अधिक अच्छा बनाने के सुझाव दिए तथा डा. राधाकृष्णन जी, जिन्होंने पुस्तक का प्राक्कथन लिखा, को मेरी ओर से धन्यवाद।

एस. आबिद हुसैन

मई, 1956

मूल अंग्रेजी के द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण 1946 में प्रकाशित तीन खंडों में मूल उर्दू पुस्तक का संक्षिप्त रूप था। अधिकांश अध्यायों को छोटा बनाया गया और संपूर्ण ग्रंथ पहले से आधे से भी छोटा हो गया।

किंतु यह पाया गया कि प्राचीनकाल का वर्णन करने वाला अध्याय मध्यकाल और आधुनिककाल की तुलना में बहुत संक्षेप में है। इसलिए पुस्तक को द्वितीय संस्करण के लिए संशोधित करते समय, मैंने द्वितीय संस्करण के दूसरे अध्याय को छः अध्यायों में फैला दिया (अध्याय दो से सात)। इसके अतिरिक्त अंतिम अध्याय को पूरी तरह नया बना दिया गया, जिससे कि एक नया सांस्कृतिक संश्लेषण लाने के पूर्व, हमें जिन समस्याओं का समाधान करना है, उनके संबंध में व्यापक दृष्टिकोण लिया जा सके, जो राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता के प्रति आश्वस्त करने के लिए आवश्यक है।

मूल अंग्रेजी के तृतीय संस्करण की प्रस्तावना

इस संस्करण के लिए, जो नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है, मैंने पूर्व संस्करण को पूरी तरह संशोधित कर दिया है और तथ्यों तथा विगत 20 वर्षों में राजनैतिक, सामाजिक तथा शिक्षा के क्षेत्र में जो घटित हुआ, निकट से उनके अवलोकन द्वारा मेरे विचारों में जो परिवर्तन आया, उसका समावेश कर पुस्तक को अद्यतन बना दिया है।

एस. आबिद हुसैन

भूमिका

1

वैज्ञानिक विवेचना में सबसे नीरस कार्य है परिभाषा, विशेषकर अमूर्त पदों की। एक ऐसा सामान्य सिद्धांत निर्धारित करना, जिसमें अपरिमित संख्या में विशेष वस्तुओं का समावेश हो सके, ऐसे बहुत से लोगों के सामर्थ्य के बाहर है, जिनके पास विशुद्ध विवेक की क्षमता उनके अपने साधारण हिस्से से अधिक नहीं है। प्राचीन एथेंसवासी साक्रेटीस को सहन नहीं कर सके, क्योंकि वे प्रत्येक पर इस बात के लिए जोर डालते थे कि वे न्याय, आत्म संयम, प्रेम आदि ऐसे अमूर्त पदों को परिभाषित करें, और प्रयत्न कर वे जो भी परिभाषा तैयार करते, उसकी धज्जियां उड़ाकर वे उन्हें चकित और उत्तेजित कर देते थे। किंतु दुर्भाग्यवश, वैज्ञानिक समस्याओं के संबंध में, बिना परिभाषाओं के कोई कार्य नहीं कर सकता। हम जिसके बारे में बात कर रहे हैं, उसकी सही समझ के बिना, यदि आप और हम, तर्क करना प्रारंभ करते हैं, जैसे बहुधा होता है, तो साक्रेटीस के व्यंग्य-विनोद के शिकार की तरह, अपने को हास्यास्पद विरोधाभासों में उलझा लेंगे। इसलिए उपयुक्त यह होगा कि विवेचना प्रारंभ करने के पूर्व, हम अपनाये गये शब्दों 'राष्ट्र और संस्कृति' जिन पर यह पुस्तक आधारित है, के संबंध में कम से कम अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर लें।

पहले हम यह देखें, कि लोग संस्कृति शब्द को सामान्य रूप से किस अर्थ में लेते हैं। बहुधा सुरुचि और शिष्ट व्यवहार के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। किंतु सुरुचि और परिमार्जन का वस्तुओं पर भी उपयोग होता है। इसलिए हम बहुधा मुगलकालीन भवनों, उद्यानों तथा कलाकृतियों का संदर्भ मुगल संस्कृति के रूप में देते हैं। इसी प्रकार सामाजिक प्रथाएं नियम और पद्धतियां भी सांस्कृतिक वस्तुओं के रूप में जानी जाती हैं। इसीलिए ग्रीकवासियों की राजनैतिक तथा शिक्षा प्रणालियां, रोमवासियों की विधिसंहिताएं, बहुधा उनकी अपनी संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। अंत में, कभी कभी संस्कृति शब्द से और अधिक व्यापक तथा अमूर्त भाव प्रकट होते हैं– अंतिम ध्येय की प्राप्ति का मार्ग या जीवन का मानदंड। जब लोग विवादास्पद रूप से, इस बात पर जोर देते हैं कि पूर्वीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में, अधिक आध्यात्मिक है, तब वे शब्द का प्रयोग इसी सामान्य और अमूर्त भाव में करते हैं। हम यह पायेंगे कि

ये सब बातें एक ओर उसी समूह के विविध पहलुओं तथा तरीकों को व्यक्त करती हैं।

यहां 'अस्तित्व के रूप' मुहावरे के लिए कुछ स्पष्टीकरण की जरूरत है। अस्तित्व के भौतिक और मानसिक, दो रूपों से हम सब परिचित हैं। मेरा शरीर, जो साकार है, और जिसका मुझे स्वयं तथा दूसरे अन्य लोगों को बाह्य इंद्रियों के द्वारा बोध होता है, अस्तित्व का एक भौतिक रूप है। मेरे विचार और अनुभूतियां, जिनका सीधे केवल मुझे ही बोध होता है, अस्तित्व का मानसिक रूप है। किंतु दार्शनिक, अस्तित्व के अन्य रूपों की ओर भी संकेत करते हैं, जिनका साधारणतः हमें ज्ञान नहीं है। विचार, आस्थाएं, सिद्धांत, जो केवल एक ही व्यक्ति तक सीमित नहीं, बल्कि जिनका बहुत से लोगों से संबंध है, वे सामाजिक प्रथाएं जो पीढ़ी दर पीढ़ी धर्म, नैतिकता, विधि, कला, राज्य के रूप में प्रकट होती हैं, के बारे में यह नहीं कहा जा सकता, कि वे मात्र व्यक्तिनिष्ठ या अस्थायी अस्तित्व के रूप हैं, बल्कि उन्हें स्थायी वस्तुनिष्ठ सत्ता का महत्व देना होगा, जिसे दूसरे शब्दों में वस्तुनिष्ठ मानसिक अस्तित्व भी कहा जा सकता है। एक चौथे आदर्श अस्तित्व के रूप को, पूर्णता के उन प्रतिमानों और मानदंडों तथा उन उच्चतम नैतिक मूल्यों से संबद्ध किया जा सकता है, जिनके द्वारा हम, प्रत्येक वस्तु, कार्य, जीवन के प्रत्येक सिद्धांत, यहां तक कि स्वयं जीवन का भी मूल्यांकन करते हैं। पांचवां और सबसे श्रेष्ठ रूप, चरम अस्तित्व का है, जिसे धर्म में भगवान मानते हैं। इनमें से, जिसमें हमारी दिलचस्पी है, और जिसका संबंध संस्कृति की परिभाषा से है, वह आदर्श अस्तित्व है, जिसकी हम कुछ अधिक सूक्ष्मता से जांच करेंगे।

तात्विक मत जिस बिंदु पर एक दूसरे से भिन्नता प्रकट करते हैं, वह है अस्तित्व का सिद्धांत। कुछ दार्शनिकों के लिए पदार्थ, कुछ के लिए निराकार वस्तुएं जिन्हें वे आत्मा या मन कहते हैं, ही आधारभूत सत्ताएं हैं, जो विविध वस्तुओं में अपने को प्रकट करती हैं और जिन्हें हम विश्व कहते हैं। किंतु उनमें से सभी को ऊपर बताये अनुसार स्तरों में अंतर करना होगा, भले ही उनकी अलग अस्तित्व के रूप में मान्यता न हो। इसलिए मूल्यों की धारणा, जो अस्थायी और व्यक्तिनिष्ठ नहीं है, बल्कि जिसमें वस्तुनिष्ठ अस्तित्व की तरह स्थायित्व है, एक या दूसरे रूप में दार्शनिकों के लिए साधारण बात है, जिससे हम उसे सार्वभौमिक कह सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे उच्चतम नैतिक मूल्यों की वास्तविक प्रकृति संख्या और क्रम के बारे में बहुत भिन्नता है, किंतु उसका हमारे इस कार्य से कोई संबंध नहीं है। हमारा जिस बात से संबंध है, वह यह है कि सभी विचारक किसी न किसी प्रकार के उच्च मानदंडों और प्रतिमानों को मान्यता देते हैं। सभी इस बात से सहमत हैं कि उनमें से एक या दूसरा सदैव प्रत्येक नैतिक कार्य का अंतिम परिणाम तथा प्रत्येक नैतिक निर्णय का आधार होता है।

अब यदि हम पिछले पृष्ठों में दिए गए संस्कृति शब्द के चार अर्थों की ओर दृष्टिपात करें तो मालूम होगा कि संस्कृति का उच्चतम मूल्यों से निकट का संबंध है।

सबसे सामान्य शब्दावली जिसमें संस्कृति को समझाया जा सकता है, वह कुछ इस प्रकार होगी—'किसी समाज में निहित उच्चतम मूल्यों की चेतना, जिसके अनुसार वह समाज अपने जीवन को ढालना चाहता है।'

ऊपर दिया गया प्राथमिक स्पष्टीकरण, संस्कृति के एक आदर्श पहलू को प्रकट करता है। अब सामुदायिक जटिलताएं, (राज्य, समाज, कला, विज्ञान) जो उच्चतम मूल्य उत्पन्न करने के प्रयत्नों के स्थायी परिणाम हैं, को वस्तुनिष्ठ मानसिक पहलू माना जा सकता है और इन मूल्यों की प्रेरणा से उत्पन्न व्यक्तिगत गुणों और प्रवृतियों को व्यक्तिनिष्ठ पहलू कहा जा सकता है। भौतिक वस्तुएं जिन पर, ये मूल्य साकार होते हैं, भवन, चित्र आदि उसका पदार्थवादी पहलू हैं।

प्रारंभिक विवेचना के बाद, संस्कृति की परिभाषा देना, हमारे लिए अपेक्षाकृत अधिक सरल होगा। अब हम कह सकते हैं—"संस्कृति किसी एक समाज में पायी जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है, जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरण के साथ साथ, उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट स्वरूप दिए जाने में अभिव्यक्त होती है।" यह परिभाषा सुकरात के तर्कों के सामने भले न ठहर सके, किंतु इसने हमें एक व्यापक सिद्धांत दिया है, जिसमें उन सभी अभिप्रायों का अंश है, जिनमें संस्कृति शब्द का उपयोग किया जाता है। इस विचार को और अधिक स्पष्ट करने के लिए, हम दो सहायक अवधारणाओं, धर्म और सभ्यता से उसका अंतर बताने का प्रयत्न करेंगे।

धर्म, अपने विस्तृत अर्थों में संस्कृति के समान है और उससे बाहर भी है तथा संकुचित अर्थों में उसका महत्वपूर्ण अंग बनता है। जहां धर्म, आंतरिक अनुभूतियों के महत्व को प्रकट करता है, जिससे जीवन के अर्थ और उद्देश्य का ज्ञान हो, वह संस्कृति की मूल आत्मा है, किंतु जहां धर्म का प्रयोग बाह्य रूप में होता है, जिसमें आंतरिक अनुभूतियां प्रतिबिंबित होती हैं, वह संस्कृति का एक अंश मात्र रह जाता है। धर्म, उच्चतम सत्य की आंतरिक उपलब्धि के रूप में, कभी संस्कृति का विरोधी नहीं बन सकता, किंतु जब वास्तविक धर्म का ह्रास होता है और वह सारहीन बन जाता है, तब अक्सर संस्कृति से उसका टकराव होता है।

संस्कृति के लिए, दूसरे शब्द की तरह, कभी कभी सभ्यता का उपयोग किया जाता है, किंतु सामान्यतया संस्कृति के ऊंचे स्वरूप के अर्थों में। यथार्थ में सभ्यता, मनुष्यों के सांस्कृतिक विकास की वह स्थिति है, जिसमें नगर कहे जाने वाले जनसंख्या के क्षेत्रों में, वे रहना प्रारंभ कर देते हैं, तथा उच्च श्रेणी के भौतिक जीवन या उच्च जीवन स्तर के प्रतीक बन जाते हैं। किंतु उच्च स्तर के भौतिक जीवन में संस्कृति का अंश तभी आता है, जबकि वह उसमें संश्लिष्ट हो या उच्च नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने का कोई माध्यम बने। जब ऐसा जीवन, नैतिक मूल्यों में से किसी एक के

प्रतिकूल होता है या ऐसे किसी नैतिक मूल्य से दूर रहता है, तब वह सांस्कृतिक विकास में अवरोध बन जाता है। इस तरह सभ्यता हमेशा संस्कृति की मित्र नहीं होती, बल्कि कभी कभी शत्रु बन जाती है। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि पुरानी सड़ी सभ्यता को उखाड़ फेंकना पड़ा, जिससे कि संस्कृति का नये रूप में उदय हो सके।

2

संस्कृति मनुष्यों के समुदाय में रहती है, जिसे कि समाज कहा जाता है। ऐसे जिस समाज में राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता पायी जाती है या वह समाज ऐसी एकता का इच्छुक होता है, तो उसे राष्ट्र माना जाता है। राष्ट्र का अर्थ क्या है ? इसका और ठीक ठीक ज्ञान अब हमें मालूम करना होगा।

राजनैतिक धारणा के रूप में राष्ट्रीयता एकदम नयी बात नहीं है, किंतु आधुनिक योरोप में उसे एक नया महत्व प्राप्त हुआ है। पूर्व में धर्म, जाति और संस्कृति के साथ साथ राज्य को एक शक्ति माना जाता था, जो लोगों को एक दूसरे के निकट लाने और एक सूत्र में बांधकर रखने का कार्य करता था, किंतु जब योरोप में लोगों के मस्तिष्क से धर्म का प्रभाव घटा तथा चर्चों में लोगों को एकता में रखने की क्षमता नहीं रह गयी, जैसाकि पूर्व में था, तब राज्य एकता और राष्ट्रीयता का वास्तविक माध्यम हो गया अर्थात् एक ही राज्य का नागरिक होना, एकता का सबसे शक्तिशाली सूत्र बन गया।

राष्ट्र का साधारण अर्थ एक समुदाय के लोगों का, एक ही राज्य में, समान राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत रहना है। किंतु यह एक उपयुक्त परिभाषा नहीं है। यदि विभिन्न समुदायों के लोग एक ही राज्य में किसी ऐतिहासिक घटना के कारण या विवशता में रहते हैं तो उसे राष्ट्र की संज्ञा देना न्याय संगत नहीं होगा। यथार्थ में राष्ट्रीयता के आधुनिक सिद्धांत का आधार किसी रूप में लोगों के द्वारा एक विशेष राजनैतिक व्यवस्था स्वीकार किया जाना है। इस तरह, एक ही राज्य में, एक ही राजनैतिक व्यवस्था के अंतर्गत स्वेच्छा से रहने या रहने का प्रयत्न करने को, एक राष्ट्र की परिभाषा मानना होगा। इस परिभाषा से राष्ट्रीयता की दो आवश्यक शर्तें पूरी होती हैं। अन्य दूसरे लक्षण जो हम वर्तमान राष्ट्रों में देखते हैं, वे राष्ट्र निर्माण का मार्ग प्रशस्त करने वाली पूर्व दशाएं हैं।

एक आदर्श राष्ट्र के लिए पूर्व दशाएं हैं -- एक सघन भौगोलिक क्षेत्र में मनुष्यों का रहना, जाति, धर्म, भाषा और सांस्कृतिक एकता तथा समान इतिहास। स्पष्ट है कि यदि मनुष्यों के एक समुदाय में ये सब बातें पायी जाती हैं, तो वह बहुत सरलता से एक राष्ट्र बन सकता है और ऐसे राष्ट्र की राष्ट्रीयता अधिक मजबूत और स्थायी होगी। किंतु विश्व में, यहां तक कि पश्चिम में भी, जहां राष्ट्र के वर्तमान सिद्धांत का ज

हुआ और जिसे अपनाया गया, कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है, जिसमें ये सभी स्थितियां पायी जाती हों। आइए पहले हम जाति संबंधी तत्व को लें। समाज-विज्ञान के सभी विशेषज्ञ, इस बात से सहमत हैं, कि विश्व के अनेक भागों में, जातियों का ऐसा मिश्रण हुआ है, शायद पश्चिम में अधिक कि किसी भी राष्ट्र द्वारा यह कहा जाना कि उसके सभी या अधिकांश सदस्य एक ही प्रजाति के हैं, एक कल्पना मात्र है। धर्म के साथ भी यही स्थिति है। कुछ छोटे राष्ट्रों को छोड़कर, जिनमें धार्मिक एकता है, हम देखते हैं कि बाकी ऐसे राष्ट्र हैं, जिनमें विभिन्न आस्थाओं और विश्वासों का सम्मिश्रण है, और कुछ ऐसे भी राष्ट्र हैं जिनकी धर्म के प्रति न कोई मान्यता है और न विश्वास।

अधिकांश राष्ट्रों में केवल भौगोलिक, सांस्कृतिक और भाषायी एकता तथा समान इतिहास के गुण पाये जाते हैं। किंतु कनाडा, और स्विट्जरलैंड के समान कुछ ऐसे भी देश हैं, जिनमें एक से अधिक राष्ट्र भाषाएं प्रचलित हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी एक ऐसा देश है, जहां विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के लोग, बिना समान इतिहास केवल एक क्षेत्र विशेष में रहने के कारण और एक सी भाषा बोलने के कारण, एकता के सूत्र में बंध गये हैं। इस तरह, यदि हम, उन परिस्थितियों का अध्ययन करें, जिनके कारण वास्तव में राष्ट्रों का निर्माण हुआ, तो हम यही कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता की पूर्व दशाएं भौगोलिक एवं सांस्कृतिक जीवन की एकता है। जाति, धर्म और भाषा की एकता या समान इतिहास, यद्यपि राष्ट्रीयता के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, किंतु अनिवार्य आवश्यकताएं नहीं हैं।

इस विवेचना के द्वारा हम जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, वह यह है, कि एक सघन भौगोलिक क्षेत्र में, सामान्य सांस्कृतिक एकता के साथ रहने वाले लोग राष्ट्रीयता के लिए न्यूनतम आवश्यक शर्तें पूरी करते हैं तथा एक विशेष राजनैतिक व्यवस्था अपनाकर और एक राज्य विशेष का निर्माण कर, राष्ट्र बन सकते हैं। इसके बाद, इन लोगों में, जाति, धर्म, भाषा और इतिहास की अतिरिक्त बातों में जितनी अधिक समानता होगी, उनमें राष्ट्रीयता के बंधन उतने ही अधिक मजबूत होंगे। अधिकांश स्थितियों में ये अतिरिक्त तथ्य, एक लंबे समय में, आप से आप, राजनैतिक प्रभाव के कारण, क्रियाशील हो जाते हैं। उदाहरण के लिए जब अमेरिकन राष्ट्र अस्तित्व में आया, तब उसकी कोई समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि नहीं थी, किंतु साढ़े तीन सौ वर्षों के अंतराल में, एक दूसरे के पारस्परिक दुख-सुख में सम्मिलित होने के कारण, अमेरिकावासियों का एक आम इतिहास बन गया है, जो उन्हें एकता में उतनी ही निकटता से संबद्ध किए हुए है, जैसाकि योरोप के प्राचीन राष्ट्रों में है। इसी तरह ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस में भाषा की एकता, इन राष्ट्रों के जन्म के समय नहीं थी, किंतु समय के प्रवाह के साथ क्रमशः बढ़ती गयी। कभी कभी शक्ति और दबाव से, ये तथ्य उत्पन्न करने के प्रयत्न किए जाते हैं, जिस प्रकार कि योरोप के देशों में, उसके शासकों ने उनकी प्रजा में, धार्मिक विश्वासों की एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, किंतु ऐसे प्रयत्न बहुत कम सफल होते हैं, और अक्सर विध्वंसक परिणामों की ओर ले जाते हैं।

3

अब हम आज के भारतवर्ष की ओर दृष्टिपात करें और मालूम करने का प्रयत्न करें, कि राष्ट्र निर्माण के लिए, पिछले पृष्ठों में बतायी गयी अवस्थाओं में से कौन सी अभी यहां विद्यमान हैं और कौन कालांतर में उत्पन्न की जा सकती हैं।

प्रथम आवश्यक अवस्था – भौगोलिक एकता, भारतवर्ष में उस सीमा तक है जिसका बहुत कम राष्ट्रों को गौरव प्राप्त है। भारत के मानचित्र पर सरसरी नजर डालने से प्रकट होगा कि उत्तर में अभेद्य पर्वतों की शृंखलाएं तथा दक्षिण में खुला समुद्र है। दक्षिण-पूर्व एवं दक्षिण-पश्चिम की ओर प्राकृतिक सीमाएं बनी हैं, जिसकी कल्पना की जा सकती है। भारत कहलाने वाले उप महाद्वीप और पाकिस्तान के बीच उत्पन्न कृत्रिम सीमा के उस पार, उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम में भी प्राकृतिक सीमाएं बनी हुई हैं जो कम उल्लेखनीय नहीं। इस तरह, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति ने इस क्षेत्र की ऐसी रचना की है कि वह भौगोलिक शब्द देश का एक अच्छा उदाहरण बन गया है। इसके अतिरिक्त, अविभाजित भारत एक आत्मनिर्भर इकाई था और विभाजन के बाद भी भारत में वे सभी प्राकृतिक संपदाएं हैं, जो एक संतुलित अर्थव्यवस्था के लिए जरूरी हैं, यदि समुचित ढंग से उनका विकास किया जाये।

जहां भौगोलिक और आर्थिक एकता इतनी सीमा तक विद्यमान है, वहां स्वाभाविक रूप से, सांस्कृतिक एकता खोजने की अपेक्षा की जायेगी क्योंकि प्राकृतिक और आर्थिक तथ्य, यद्यपि पूरी तरह नहीं, किंतु सांस्कृतिक जीवन को मोड़ने में प्रभावकारी असर डालते हैं। वास्तव में, जब हम भारत के सांस्कृतिक इतिहास की ओर देखते हैं, तो पाते हैं, कि विभिन्न मतभेदों के बावजूद, भारतवासियों के विचारों, भावनाओं तथा रहन सहन के तरीकों में एक बुनियादी एकता है, जो राजनैतिक नक्षत्रों के बदलने से घटती बढ़ती है, किंतु समाप्त कभी नहीं होती। अनेक बार, बाहरी और भीतरी अलगाववादी शक्तियों ने इस एकता को नष्ट करने का भय उत्पन्न किया, किंतु भारतवर्ष में एक रहने की भावना हमेशा प्रबल रही तथा उसने विरोधी प्रवृतियों और आंदोलनों को एक समन्वयात्मक संस्कृति में लपेट लिया। आज जब हम कुछ सांस्कृतिक भ्रमों के काल से गुजर रहे हैं, यह एकता की भावना भेदभाव की सतह के नीचे विद्यमान है, जो देश में काफी प्रबल मालूम पड़ती है। उसे केवल बाहर निकालना तथा विवेकपूर्ण तरीकों से विकसित करना है, किंतु उसके अंतः नियमों के अंतर्गत। ऐसा प्रतीत होता है कि सांस्कृतिक एकता का सबसे शक्तिशाली आधार राष्ट्रभाषा, विभाजक शक्ति बन गयी है। किंतु जैसाकि हम अंतिम अध्याय में देखेंगे, यदि भाषा की समस्या, जो भारतवर्ष में सांस्कृतिक समस्याओं की मूल कड़ी है, को दूरदर्शिता और समझदारी से सुलझाया जाये तो सांस्कृतिक एकता की प्रबल भावना, जो हमारे रक्त में है, समस्त

अलगाववादी प्रवृतियों पर विजयी होगी और राजनैतिक एकता की नींव को मजबूत करेगी।

समान इतिहास एक दूसरी बड़ी ताकत है, जो भारतवासियों को एकता के सूत्र में बांधे रखती है। बहुत से लोग, जो दूसरे देशों से भारत में आये, मूल निवासियों के साथ हजारों वर्षों से साथ साथ रह रहे हैं। अंतिम शृंखला में भी मुसलमान उत्तर-पश्चिम देशों से आठ से बारह शताब्दी पूर्व भारत में आये। प्रारंभ में भारत के अन्य लोगों की तुलना में इनके जीवन की कहानी भिन्न रही होगी, किंतु स्वतंत्रता के पूर्व 200 वर्षों से, वे बाकी अन्य सब लोगों के समान ही रहे, अर्थात् वे उसी विदेशी शासन के राजनैतिक, आर्थिक बंधनों तथा शोषण में से निकले हैं।

एकता स्थापित करने वाले तथ्यों का सर्वेक्षण करने के बाद, हम जाति और धर्म की उन बातों की ओर ध्यान दें, जो देश में फूट की प्रवृतियों को प्रोत्साहित करने वाली विभाजक शक्तियां मानी जाती हैं।

मानव समाज की उत्पत्ति की प्रारंभिक अवस्था में, सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के आधार के रूप में, जाति की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। किंतु जनसंख्या के स्थानांतरण, विजय और उपनिवेशवाद ने विभिन्न जातियों के मिश्रण की ऐसी अवस्था उत्पन्न कर दी है कि एक दूसरे से भेद करना सरल नहीं रहा, और जैसे जैसे मानव मस्तिष्क जंगली अवस्था से सभ्य जीवन व्यवस्था में आया, जहां नैतिक मूल्यों के संबंध शारीरिक संबंधों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं, जाति का महत्व बहुत कुछ समाप्त हो गया। किंतु फिर भी सांस्कृतिक ह्रास के समय, जबकि मनुष्यों का नैतिक मूल्यों के प्रति विश्वास डिगने लगता है, वे पुनः जाति पूजा तथा समाज की आदिम अवस्था की ओर वापिस लौटने लगते हैं। भारतवर्ष, राष्ट्रीय आंदोलन से एक नये युग के प्रारंभ के पूर्व, ऐसे ही समय में से गुजर रहा था। जाति व्यवस्था की प्रशाखाएं, जो प्राचीन वर्णाश्रम पद्धति से अधिक कठिन और जटिल थीं, संपूर्ण सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करती रहीं। यहां तक कि मुसलमान, जिनका धर्म आवश्यक रूप से, इस्लाम के पूर्व अरबों की जाति पूजा के विरुद्ध एक धर्म युद्ध के समान था, का आदिम अवस्था के रूप में एक प्रकार से पतन हो गया। जाति व्यवस्था ने स्थानीय तथा ऊपर की विधायिकाओं के चुनाव के समय सबसे घृणित रूप दिखाया। चाहे वह चतुर्वेदी या श्रीवास्तव, घोष या बोस, अय्यर या आयंगर, कुरेशी या अंसारी हो, जातिगत निष्ठा की शक्ति ही चुनावों में क्रियाशील रही। वर्ग, दलगत समूह, राष्ट्र, देश और कुछ मामलों में, यहां तक कि धर्म का भी कोई महत्व नहीं रह गया। काफी सीमा तक जातिगत निष्ठा अब भी विद्यमान है, किंतु वह सामुदायिक भावना (धार्मिक एवं भाषायी) दल और राष्ट्र के प्रति अधिक झुकाव के विरुद्ध, लड़ाई में क्रमशः पराजित हो रही है।

जाति के साथ साथ धर्म भी विभाजक शक्ति के रूप में बदनाम था। भारत के

सबसे बड़े दो समुदायों हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संघर्ष को देश के विभाजन का कारण माना जाता है। किंतु पूर्वाग्रहों से रहित होकर, समकालीन इतिहास के अध्ययन से प्रकट होता है कि विभाजन का कारण स्वयं धार्मिक भावना नहीं थी, बल्कि बाहरी तत्वों, जो धर्म के साथ संबद्ध हो गये थे, न्यस्त स्वार्थों जिन्होंने धर्म के नाम का उपयोग अपने स्वार्थों के लिए किया, ने विभाजन का आंदोलन प्रारंभ किया, जिसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ। जहां तक विशुद्ध धर्म का संबंध है हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की अंतः अनुभूतियों में आधारभूत समानता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वास्तविक धार्मिक सिद्धांतों, कर्मकांडों, धार्मिक नियमों के संबंध में दोनों के बीच बहुत अंतर है, जो निरंतर मतभेद की ओर ले जा सकते हैं। किंतु भारत के हृदय, जो हिंदू और मुसलमान दोनों को जीवनरक्त प्रदान करता है, का मस्तिष्क और रहस्यमय परंपराओं की दृष्टि के क्षेत्र में ऐसा पोषण हुआ है कि युद्ध की ओर ले जाने वाला धार्मिक प्रतिरोध, जो मध्यकाल में योरोप में एक आम बात थी, भारतीय इतिहास में बहुत कम रहा। गत हजार वर्षों में, जबकि हिंदू और इस्लाम दो धर्म पूरी तरह एक दूसरे के विरुद्ध थे, भारत भूमि पर दोनों को एक दूसरे के निकट लाया गया। संतों और सूफियों ने केवल सहनशीलता का ही वातावरण पैदा नहीं किया, बल्कि पारस्परिक सद्‌भावना भी उत्पन्न की, जिससे कि जब हिंदू और मुसलमान नरेश सत्ता के लिए संघर्ष कर रहे थे तब दोनों धर्मों के आम लोग एक साथ मिल जुलकर रहने की स्थिति में थे। धार्मिक सामंजस्य का यह वातावरण लगभग पिछली शताब्दी के अंत तक चला। यह केवल वर्तमान सदी के प्रारंभ की बात है कि विशेष उद्देश्यों और निहित स्वार्थों से, जिसका धर्म से कोई दूर का भी संबंध नहीं था, उसके नाम के जादू के द्वारा, हिंदू-मुसलमान समुदाय के आम लोगों को एक दूसरे के विरुद्ध कर दिया और दंगों का क्रम प्रारंभ हो गया, जिससे भारतवर्ष के टुकड़े हो गये।

यह संघर्ष की स्थिति धार्मिक मतभेदों के कारण आप से आप उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि अधार्मिक उद्देश्यों से न्यस्त स्वार्थ वाले लोगों के द्वारा निर्मित की गयी। यह बात इस तरह से स्पष्ट होती है कि हमने देखा कि यह संघर्ष राजनैतिक तनाव और आर्थिक संकट के समय प्रारंभ किया गया, और म्युनिसिपलिटी तथा संसदीय चुनाव के अवसरों पर उसने विशेष हिंसक रूप ले लिया। इसका नेतृत्व उन लोगों के द्वारा किया गया जिनका, स्वर्गीय सत्ता की अपेक्षा, ब्रिटिश साम्राज्य से, अधिक निकट का संबंध था।

पिछली विवेचना के समापन में कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता की तीन पूर्व दशाएं—भौगोलिक, आर्थिक एकता तथा समान इतिहास, विश्व के अन्य बहुत से देशों की तुलना में, भारतवर्ष में काफी सीमा तक विद्यमान हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थानीय एवं सांप्रदायिक भिन्नताओं की सतह के नीचे, एक गहन बुनियादी एकता की भावना छिपी है। दूसरी ओर जंगलीपन की मनोवृत्ति, भाषायी विवाद और तथाकथित धार्मिक सांप्रदायिकता विभाजक शक्ति के रूप में क्रियाशील है।

सभी संबंधित परिस्थितियों का सावधानी से निरीक्षण करने के बाद यह निष्कर्ष

निकलता है कि सबको गले लगाने वाली राष्ट्रीयता, जो उससे संबंधित समुदायों और व्यक्तियों को केवल एक राज्य की निष्ठा के बंधन से नहीं, बल्कि जीवन के सभी अंगों में एकरूपता के आधार पर एक साथ संबद्ध करती है, भारत भूमि पर कभी पनप नहीं सकती। विभिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक समुदायों, जो भारत राष्ट्र का निर्माण करते हैं, के जीवन के आम दृष्टिकोण के क्षेत्र के भीतर, उनका विचारों और रहन सहन का विशेष क्षेत्र है, जो किसी भी कीमत पर छोड़ने को तैयार नहीं हैं। जीवन दर्शन, जो धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों पर राजनैतिक मूल्यों को प्राथमिकता प्रदान करता है और विभिन्न समुदायों के लोगों से, कुल राष्ट्रीय एकता के लिए, उनके द्वारा पोषित विशिष्ट संस्कृतियों के त्याग की मांग करता है, भारत में मस्तिष्क को ग्राह्य नहीं हो सकता। यहां तक कि योरोप में, जहां कि मानसिकता राष्ट्रीयता के चरम स्वरूप के अनुकूल है, वहां भी उसे प्रजातंत्र की मजबूत शक्ति के द्वारा नियंत्रित रखा जाता है। केवल कुछ ही हिस्सों में अल्प समय के लिए, वह नाजी शासन के अंतर्गत पनप सका। भारतवर्ष में, प्राचीन परंपराएं, साथ ही साथ वर्तमान परिस्थितियां, विशिष्ट प्रकार की राष्ट्रीयता के बढ़ने में सहायक हो रही हैं जो, राजनैतिक अर्थों की अपेक्षा सांस्कृतिक अर्थों में, अधिक संघीय है। इससे आम राष्ट्रीय संस्कृति प्रवर्तित होती है, और इसके साथ ही विभिन्न समुदायों को, उनकी अपनी सांस्कृतिक तथा धार्मिक परंपराओं को सुरक्षित रखने और विकसित करने का आश्वासन मिलता है, यदि वे राष्ट्रीय एकता और सामान्य कल्याण के लिए हानिकर न हों।

यह बात एक बार स्पष्ट हो जाये तो, इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में पूरी तरह समर्थ हो सकता है। ऐसी एकता के लिए आवश्यक पूर्व दशाएं उत्पन्न करने की दिशा में भौतिक और ऐतिहासिक शक्तियां जो कर सकती थीं, वे सब हो चुका। अब आवश्यकता इस बात की है कि एकता की शक्तियों को बढ़ाने तथा विभाजन और फूट की शक्तियों को समाप्त करने की दिशा में जागरूकता से प्रयत्न किए जायें।

4

ये सब अवस्थाएं, जिनकी हमने अभी तक चर्चा की, आवश्यक हैं किंतु एक राष्ट्र के निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं हैं। ये राष्ट्रीयता के लिए पूर्व दशाएं हैं किंतु आवश्यक बात जिससे राष्ट्र बनता है, वह है लोगों की राष्ट्र बनाने की आम भावना। प्रतिनिधि विधान सभा के द्वारा संविधान स्वीकृत कर लिए जाने तथा वयस्क मताधिकार पर आधारित छह आम चुनावों में, उसका अनुमोदन हो जाने के बाद, यह प्रश्न उठाना कि क्या भारत में ऐसी भावना निहित है, शब्दाडंबर मात्र ही प्रतीत होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये दोनों ऐतिहासिक घटनाएं अंतिम रूप से वैधानिक सहमति प्रदान करती हैं, या कम से कम

पच्चीस वर्षों से देख रहे सभी लोगों को यह स्पष्ट हो गया है कि भारतवर्ष के लोग (वर्तमान चर्चा में जिससे हमारा संबंध है) एक आम राजनैतिक व्यवस्था कायम करना चाहते हैं और चाहते हैं कि ऐसी व्यवस्था धर्मनिरपेक्ष एवं प्रजातांत्रिक हो तथा जो बाद में बिल्कुल सुस्पष्ट हो गया, कि एक समाजवादी समाज व्यवस्था हो। अब हम यह मालूम करना चाहते हैं कि क्या राष्ट्रीय एकता की यह प्रबल इच्छा, विभिन्न समुदायों के बीच पारस्परिक विश्वास और सद्‌भावना की कड़ी चट्टान पर आधारित है, जिससे कि यह एकता उतनी मजबूत और स्थायी बन सके जैसी कि हम वास्तव में चाहते हैं।

यह ग्राह्य न हो सकने योग्य बहुत बड़ा सत्य है, किंतु व्यक्त करना जरूरी है कि भारतवर्ष में अल्पसंख्यकों के कुछ वर्ग, चाहे धार्मिक, जातिगत या सांस्कृतिक क्षेत्र में हों, संबंधित बहुसंख्यकों के द्वारा किए जाने वाले व्यवहार से संतुष्ट नहीं हैं। यह न्याय संगत हो या नहीं किंतु वे उनके विरुद्ध निरंतर किए जाने वाले द्वेषपूर्ण भेदभाव की शिकायत करते हैं। उनके मत से यह भेदभाव सामान्यता, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तीन क्षेत्रों में किया जाता है। राजनैतिक क्षेत्र में अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्यों को मान्य योग्यता के रहते हुए भी अक्सर राजनैतिक दल के नेतृत्व या विधान सभा और मंत्रिमंडल की सदस्यता से अलग रखा जाता है। आर्थिक क्षेत्र में वे ऐसा अनुभव करते हैं कि सार्वजनिक या निजी सेवाओं या व्यापार में प्रवेश पाना उनके लिए कठिन बना दिया गया है। सांस्कृतिक क्षेत्र में उनकी स्वतंत्र संस्कृति, विशेषकर भाषा को दबाने का प्रयत्न किया जाता है। साफ तौर से यह कहा जाना जरूरी है कि राजनैतिक और आर्थिक भेदभाव प्रथमतः सार्वभौमिक नहीं है तथा दूसरी ओर शासन के प्रतिनिधियों और जनता के उत्तरदायित्वपूर्ण नेतृत्व की ओर से उसे कड़ी भर्त्सना और विरोध का सामना करना पड़ता है। किंतु सांस्कृतिक क्षेत्र में असहिष्णुता इतनी व्यापक है और मजबूती से जड़ें जमाये हुए है कि कुछ ही नेता उसके विरुद्ध आवाज उठाने का विचार और साहस रखते हैं। ऐसी असहिष्णुता क्यों ? जो सभी भारतीय परंपराओं के विरुद्ध है तथा बहुत से लोग जिसके प्रभाव में हैं। इसका कारण यह है कि वह देशभक्ति के आवरण में प्रकट होती है। बहुत से लोग निष्ठापूर्वक इस बात पर विश्वास करते हैं कि संपूर्ण भारत के स्तर पर (या क्षेत्रीय स्तर में) दृढ़ और स्थायी एकता स्थापित करने के लिए, यह आवश्यक है कि समस्त भारतीय संघ में (पूरी इकाई क्षेत्र में) एक भाषा और एक ही संस्कृति की स्थापना हो और जो बहुसंख्यकों की भाषा और संस्कृति ही हो। यह एकरूपता, अल्पसंख्यकों की भाषाओं तथा सांस्कृतिक परंपराओं को अस्तित्व से बाहर करने, या कम से कम उन्हें अधीनस्थ स्थिति में रखने से ही प्राप्त की जा सकती है। अपने निष्ठामय किंतु खेदजनक उत्साह में वे यह महसूस नहीं करते कि यह दमनात्मक सांस्कृतिक नीति, केवल प्रजातांत्रिक, न्यायिक सिद्धांतों तथा भारतीय सहिष्णुता की सभी परंपराओं के विरुद्ध ही नहीं है, बल्कि जिस उद्देश्य को लेकर हम चले हैं, उसके बिल्कुल विपरीत

दिशा में हमें ले जायेगी।

राष्ट्र की विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों की कीमत पर राष्ट्रीय एकता स्थापित किए जाने का प्रयत्न करने से, विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों में अशांति और विरोध उत्पन्न होगा तथा वर्तमान में बहुत कुछ जो एकता बनी हुई है, वह भी नष्ट हो जायेगी और देश की शांति और स्वतंत्रता खतरे में पड़ जायेगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि संपूर्ण भारत के लिए संपर्क भाषा और अलग अलग क्षेत्रों में क्षेत्रीय भाषाओं का विकास पूर्णतया आवश्यक है और इसी तरह देश के दृष्टिकोण और जीवन प्रणाली में और अधिक एकरूपता लाना भी जरूरी है, क्योंकि विस्तृत क्षेत्र में समान भाषा, समान संस्कृति के बिना भारत राष्ट्र कमजोर और अस्थायी बना रहेगा, किंतु यह पवित्र सांस्कृतिक आंदोलन निरंतर प्रयत्नों तथा उद्देश्यपूर्ण (मिशनरी) प्रेरणा से ही आगे चलाया जा सकता है, न कि शक्ति और दबाव से।

हम उपयुक्त स्थान पर चर्चा करेंगे कि अल्पसंख्यकों की भाषाऔर संस्कृति को बिना क्षति पहुंचाये किस प्रकार आम भाषा और आम संस्कृति का प्रसार किया जा सकता है। हम यहां जिस बात पर जोर देना चाहते हैं, वह यह है, कि भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की अधिकांश पूर्व दशाएं और साथ साथ आवश्यक शर्तें जैसे लोगों में राष्ट्रीयता के लिए आम भावना विद्यमान है, किंतु बाद की स्थितियां एक दृष्टि से कमजोर हैं। सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में, अल्पसंख्यकों को पर्याप्त विश्वास नहीं है कि भारत के संविधान में अल्पसंख्यकों के लिए राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए जो आश्वासन दिया गया है बहुसंख्यक उसे मानने की स्थिति में हैं। जब तक बहुसंख्यक, समाज के अल्पसंख्यकों की वास्तविक या संभावित कठिनाइयों की ओर बुद्धिमत्ता से ध्यान नहीं देंगे और उन्हें संतुष्ट करने के लिए ईमानदारी से प्रयत्न नहीं करेंगे, अल्पसंख्यकों का असंतोष, जो वीणा में एक साधारण खिंचाव मात्र प्रतीत होता है, किसी दिन राष्ट्रीय जीवन में संपूर्ण पारस्परिक सद्भावना के वातावरण को नष्ट कर देगा। स्वतंत्रता के समान एकता की कीमत भी सदैव जागरूकता है। वास्तविक प्रजातांत्रिक देशों में, बहुसंख्यकों को, जिनके पास पवित्र धरोहर के रूप में प्रशासनिक सत्ता है, हमेशा सतर्क रहना पड़ेगा। अल्पसंख्यकों के इस भय की ओर कि उनके वैधानिक अधिकारों का सम्मान नहीं किया जा रहा है, चाहे वे न्यायसंगत हों या नहीं, गंभीरता से ध्यान देना होगा, तथा उसके समाधान के लिए हर संभव प्रयत्न करना होगा। इस बात को न मानना अकृतज्ञता होगी कि स्वतंत्रता के बाद, विशेषकर, पिछले दस वर्षों में केंद्रीय और राज्य सरकारों ने इस दिशा में अनेक कदम उठाए हैं, किंतु यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें बिना लोगों के सक्रिय सहयोग के सरकारों द्वारा अधिक कुछ नहीं किया जा सकता। इसलिए, समस्या का वास्तविक और स्थायी समाधान तब तक संभव नहीं है, जब तक कि बहुसंख्यक सांस्कृतिक समुदाय वाले, अल्पसंख्यकों के संबंध में आवश्यक सहनशीलता प्रदर्शित करने के लिए, यथासंभव सब कुछ करने के लिए मानसिक रूप से तैयार न हों

और उनके मन में पूर्ण सुरक्षा की भावना उत्पन्न न करें। देश में सांस्कृतिक सहिष्णुता भारतीय राष्ट्र के लिए केवल एक शक्ति का आधार ही नहीं बनेगी, बल्कि इस बात का आश्वासन होगा कि नया भारत उससे भिन्न संस्कृति के अन्य राष्ट्रों के प्रति सहनशील होगा तथा सांस्कृतिक अंधभक्ति की दिशा में उसका पतन नहीं होगा, जो कि अधिक नहीं तो उतनी ही बुरी स्थिति है, जैसी कि राजनैतिक मतभेद।

मुझे आशा है कि पाठकों को पिछले पृष्ठों में यह ज्ञान हुआ होगा, कि भारतीय राष्ट्रीयता को सुदृढ सुरक्षित नींव पर आधारित करना कितना जरूरी है, जिससे कि देश में कभी न मिटने वाले एकता के स्थायी मूल रंग पर, विविध रंगों एवं कलाओं के सामंजस्यपूर्ण संयोजन से सांस्कृतिक जीवन का एक अच्छा स्वरूप उभरकर सामने आये। इस उद्देश्य की पूर्ति अधैर्यपूर्ण जल्दबाजी या दबाव से नहीं हो सकती, बल्कि केवल पर्याप्त धीरज, असीम प्रेम और निरंतर श्रम से, इसे प्राप्त किया जा सकेगा, जिसका महात्मा गांधी ने एक आदर्श उपस्थित किया था।

भारत के कई हजार वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास, यह प्रकट करता है कि एकता का सूक्ष्म किंतु मजबूत धागा जो उसके जीवन की अनंत विविधताओं में से होकर जाता है, किसी समुदाय विशेष की सत्ता के बल या दबाव से नहीं पिरोया गया, बल्कि ऋषि-मुनियों की दूरदृष्टि, संतों की चेतना, दार्शनिकों के चिंतन तथा कवियों और कलाकारों की कल्पना शक्ति से यह स्थिति बनी है। केवल यही माध्यम है, जिसके द्वारा राष्ट्रीय एकता को अधिक व्यापक, मजबूत और स्थायी बनाया जा सकता है। यह पुस्तक इसी सहज सत्य को उद्घाटित करने के लिए लिखी गयी है।

किंतु इन विवेचनाओं के बीच हमारे सामने एक दूसरी समस्या उपस्थित होगी वह है नये और पुराने के बीच का मतभेद, जो आज हमारे मस्तिष्क में है। स्पष्ट है कि इस पुस्तक में इस समस्या के साथ न्याय करना संभव नहीं है। इसके लिए एक अलग पुस्तक लिखने की आवश्यकता है।

1. भारतीय संस्कृति के आधार

संस्कृति की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मतों के दो पक्ष हैं—चैतन्यवादी और भौतिक-वादी। दार्शनिक और इतिहासकार, उनमें से एक या दूसरे के किसी रूप का समर्थन करते हैं या दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

पहले के अनुसार, सांस्कृतिक विकास के क्रम में किसी विशेष अवस्था पर, किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह ने सर्वोच्च सत्ता से प्राप्त होने वाले अंतर्ज्ञान, प्रेरणा या रहस्यात्मक अनुभूतियों के द्वारा उच्चतम मूल्यों या विचारों की दृष्टि प्राप्त की। इस दृष्टि ने विशेष सामाजिक परिवेश में कोई वस्तुनिष्ठ मानसिक स्वरूप ग्रहण किया और वह एक समूह का आदर्श बन गया, जिसका बाद में किसी मानसिक तथा भौतिकवादी लक्षणों के रूप में विश्लेषण कर संस्कृति का रूप दिया गया। उदाहरण के लिए, इस तरह चैतन्यवादी मत के अनुसार वैदिक काल के ऋषियों को, दैवी प्रेरणा या अंतर्बोध से कोई विचार दृष्टि मिली, कालांतर में जिसने सामाजिक स्थितियों तथा आर्यों की बौद्धिक क्षमता के योग्य, एक आदर्श का रूप ग्रहण कर लिया। इस आदर्श को उन्होंने सिंधु, गंगा के कछार के प्राकृतिक वातावरण में व्यवहार में परिणित करने का प्रयत्न किया और इस प्रक्रिया में विचारों तथा प्रथाओं की उत्पत्ति हुई, जो वैदिक संस्कृति बन गये। बाद के पक्ष के मतों के अनुसार संस्कृति का प्रारंभिक बिंदु प्राकृतिक वातावरण है। प्रथम अवस्था में जलवायु, भौतिक साधन तथा लोगों के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले उत्पादन के माध्यम, ऐसे तथ्य, मनुष्य के सामुदायिक जीवन पर विशेष छाप छोड़ते हैं। तब, जीवन से प्राप्त अनुभवों के आधार पर, सिद्धांतों और विश्वासों को स्वरूप मिलता है और अंततोगत्वा, पृथक्करण की प्रक्रिया से हमें आदर्श सिद्धांत प्राप्त होते हैं, जिन्हें हम स्वयं भूसत्ता के रूप में मान्यता देते हैं तथा एक विचारधारा निरूपित करते हैं। इस तरह प्राकृतिक सिद्धांत की वकालत करने वाले, वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति, यह कहते हुए समझायेंगे, कि वह प्राथमिक रूप से कृषि जीवन पर आधारित है, जिसे घुमंतू आर्यों ने भारत आगमन के बाद अपनाया और उसके आधार पर उन्होंने अपने धर्म, अपने दर्शन, अपनी सामाजिक व्यवस्था की इमारत को क्रमशः ऊंचा उठाया।

मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि इन मतों के पक्ष-विपक्ष में, विभिन्न समूहों के दार्शनिकों की बहस में अपने को संलग्न करूं। इतिहास और पुरातत्व का जो मेरा अध्ययन है वह मुझे इस मान्यता की ओर ले जाता है कि संस्कृति का क्रमिक विकास, प्राकृतिक वातावरण

और तात्विक विचार दोनों तथ्यों के पारस्परिक प्रभावों का परिणाम है। दोनों मत संस्कृति के विकास में प्राकृतिक वातावरण की भूमिका को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं, यद्यपि वे उसे अलग अलग मात्रा में महत्व प्रदान करते हैं। यहां जिस बात पर बल दिया जाना है, वह यह है कि संस्कृति का मूल तत्व, जो प्राकृतिक वातावरण और सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करता है, वैचारिक तत्व (विचार, सिद्धांत, और विश्वासों के स्थान पर) की तुलना में अधिक या कम महत्वपूर्ण हो सकता है, किंतु वास्तव में, यह वह बात है जो संस्कृति को स्थानीय रंग देती है और इस तरह विशेष राष्ट्रीय तत्व निर्मित करती है। विचार, सिद्धांत, विश्वास किसी स्थान विशेष तक सीमित नहीं रहते। वे जातिगत, राष्ट्रीय तथा भौगोलिक सीमाओं को पार कर विश्व के किसी भी हिस्से में फैल जाते हैं, किंतु संस्कृति का वास्तविक तत्व, अपने स्थान विशेष तक ही सीमित रहता है। प्रत्येक देश में हम विभिन्न विचारधाराएं तथा विश्वास पाते हैं किंतु वहां की भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार निर्मित संस्कृति का वास्तविक तत्व वही रहता है। जब हम एक देश की विशिष्ट सामान्य संस्कृति की बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य इन्हीं भौगोलिक तथ्यों से रहता है, जो केवल पदार्थ के रूप में ही प्रकट नहीं होते, बल्कि विशेष मानसिक वातावरण भी उत्पन्न करते हैं। यही वातावरण है, जिसमें एक देश के लोगों के समान दृष्टिकोण और समान स्वभाव बनते हैं, चाहे धार्मिक व दार्शनिक विचारों में भले ही भिन्नता हो। ये समान प्रकृति और मस्तिष्क, समान राष्ट्रीय संस्कृति के सबसे महत्वपूर्ण स्त्रोत हैं। अन्य स्त्रोतों में नये धार्मिक और दार्शनिक आंदोलन आते हैं, जो किसी देश में समय पर उत्पन्न होते हैं, या उन लोगों की संस्कृतियां जो बाहर से आये हैं और उस देश में बस गये हैं, या वे हैं जिनसे उस देश का युद्ध, वाणिज्य और व्यवसाय के कारण संपर्क हुआ। किंतु यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इन विभिन्न संस्कृतियों के केवल वे ही तत्व आम राष्ट्रीय संस्कृति के अंग माने जाते हैं, जिन्हें ऐसी सद्‌भावना के साथ लोगों के सामूहिक मन से जोड़ा जा सके कि सभी वर्ग और समुदाय के लोग उन्हें अपना समझें। इन तत्वों के द्वारा निर्मित इस सामूहिक अवस्था को राष्ट्रीय संस्कृति कहा जाता है।

भारत की राष्ट्रीय संस्कृति में भी, ये दो तत्व निहित हैं—समान प्रकृति और समान दृष्टिकोण, जिससे भारतीय मस्तिष्क, तथा विभिन्न आंदोलनों और संस्कृतियों का बौद्धिक प्रभाव बनता है, जिनका राष्ट्रीय मस्तिष्क के साथ सामंजस्य स्थापित हो गया है। इनमें वे संस्कृतियां शामिल हैं, जो प्रागैतिहासिक काल में विद्यमान थीं, वे जिनका देश के साथ अस्थायी संबंध रहा, वे जो बाहर से आयीं और भारत में अपना घर बना लिया, तथा अंत में वे क्रांतिकारी बौद्धिक आंदोलन, जो आप से आप स्वयं, समय समय पर इस देश में उत्पन्न हुए।

भारत की भौगोलिक समाकृति की सबसे प्रमुख विशेषता, शायद यह तथ्य है कि उत्तर के पर्वतीय क्षेत्र और दक्षिण प्रायःद्वीप के पूर्वी और पश्चिमी घाटों को छोड़कर संपूर्ण

देश में मैदान और निचले पठार हैं, जिनमें बड़ी नदियों का जल प्रवाहित होता है। एक ओर कुछ ठंडे क्षेत्रों को छोड़ने पर, संपूर्ण देश की जलवायु वर्ष के एक भाग में समशीतोष्ण और दूसरे भाग में गर्म रहती है। बंगाल तथा कुछ पहाड़ी क्षेत्रों में भारी वर्षा होती है, किंतु देश के अधिकांश भागों में साधारण वर्षा होती है और वह भी वर्ष के विशेष समय तक सीमित रहती है। कुछ वर्षों में देश के किन्हीं हिस्सों में बिल्कुल वर्षा नहीं होती। ऐसा कहा जा सकता है कि यद्यपि देश के बड़े हिस्से में एक सी जलवायु पायी जाती है, किंतु वास्तव में सभी तरह की जलवायु उपलब्ध है—सबसे गर्म से सबसे ठंडी और वाष्पीय से सबसे सूखी। इसी प्रकार मिट्टी की प्रकृति में एक स्थान से दूसरे स्थान में बहुत अधिक भिन्नता है। इसके परिणामस्वरूप देश में प्रायः सभी प्रकार की वनस्पतियां और खनिज उत्पादन उपलब्ध हैं।

ऐसा देश, जिसमें प्रमुखतया मैदान हैं, अच्छी तरह सिंचित हैं और वर्ष के अधिकांश भाग में पर्याप्त सूर्य का प्रकाश मिलता है, स्वाभाविक रूप से कृषि के लिए विशेष उपयुक्त होगा। इसीलिए अनंतकाल से भारत में कृषि लोगों का मुख्य धंधा रहा है। चूंकि देश के विभिन्न भागों के उत्पादनों में भिन्नता है, और ये स्वाभाविक जल मार्गों या सड़कों के द्वारा, जो बिना अधिक कठिनाई के निर्मित हो सकती हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलतापूर्वक स्थानांतरित हो सकते हैं, आंतरिक व्यापार पर्याप्त मात्रा में विकसित हुआ। भूमिगत और समुद्री मार्गों के द्वारा वैदेशिक व्यापार भी बड़े पैमाने पर विकसित हुआ किंतु अनेक शताब्दियों तक यह व्यापार विदेशियों द्वारा ही किया जाता रहा। भारतीयों की स्वयं की इस क्षेत्र में बहुत कम भूमिका रही। बहुत संख्या में भारतीयों ने विदेशी व्यापार इसलिए तत्परता से नहीं अपनाया, क्योंकि देश के अंतः भाग समुद्र से काफी दूरी पर हैं। केवल समुद्र तट के क्षेत्र के लोगों ने कुछ मात्रा में समुद्री व्यापार प्रारंभ किया। इस तरह भौतिक विशेषताओं और शक्तियों के प्रभाव से भारतीय आर्थिक जीवन कृषि प्रधान रूप में विकसित हुआ और संपूर्ण रूप में, उसके सांस्कृतिक जीवन को बनाने में, इसका उल्लेखनीय असर पड़ा। उसने युद्ध और विध्वंस की अपेक्षा शांति के मूल्यों और रचनात्मक कार्यों पर विशेष बल दिया। भारतीय संस्कृति के संपूर्ण इतिहास में हमें इस भावना का समावेश मिलता है।

भारत के आर्थिक जीवन की सबसे उल्लेखनीय विशिष्टता यह है कि गर्म और समशीतोष्ण जलवायु के कारण, ठंडे देशों की तुलना में जीवन की आधारभूत आवश्यकताएं कम रहती हैं, जबकि उनकी संतुष्टि के लिए साधन प्रचुर मात्रा में हैं। भोजन, कपड़ा और ईंधन के रूप में लोगों की बुनियादी जरूरतें बहुत सीमित हैं और ये वस्तुएं सरलता से बड़ी मात्रा में उत्पन्न की जाती हैं। यह सही है कि कुछ हमारी स्वयं की अक्षमता के कारण और कुछ उदासीन विदेशी सत्ता की विरासत के कारण, हमारे लाखों देशवासी दयनीय गरीबी की अवस्था में हैं, किंतु इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसी स्थिति हमेशा नहीं रही। ब्रिटिश हुकूमत के पूर्व, जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की

अधिक कमी का अनुभव, सिर्फ कुछ भागों में, समय समय पर अनावृष्टि की अवधि को छोड़कर, कभी नहीं हुआ। इस बात का हमारे लिए विशेष महत्व है, क्योंकि आर्थिक आवेग मनुष्य के जीवन में हमेशा एक महत्वपूर्ण तथ्य होते हैं और जब वह बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित रहता है, तब वे, उसके मस्तिष्क को संत्रस्त करते हैं और उसके संपूर्ण जीवन और क्रियाओं पर असर डालते हैं। यह सत्य इस बात से प्रदर्शित होता है कि ठंडे देशों में, जहां सभ्यता की प्रारंभिक अवस्था में, मनुष्य को उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में पूरा ध्यान और शक्ति को केंद्रित करना पड़ा, आर्थिक तत्व की उसके जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही। गर्म देशों में ऐसा नहीं रहा और परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति के विकास में आर्थिक आवेगों का अपेक्षाकृत सीमित स्थान रहा।

संस्कृति के वस्तुगत पहलुओं, जैसे भोजन, पोशाक, जीवन प्रणाली आदि पर जलवायु तथा आर्थिक साधनों का प्रभाव काफी स्पष्ट है, जिसके संबंध में बहस की जरूरत नहीं है। इस तथ्य से कोई इंकार भी नहीं कर सकता कि भारतीय संस्कृति का वस्तुगत पहलू भी, उसके प्राकृतिक और आर्थिक वातावरण के अनुसार ही निर्मित होता है। किंतु जब ऐसी विभिन्नताओं की ओर ध्यान जाता है, जिनके अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में लोगों की जीवन पद्धति और व्यवहार में विशिष्टताएं प्रकट होती हैं, तब आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि कुछ समान विशेषताएं, जो शिक्षित वर्ग में पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण से उत्पन्न हुई हैं, के अतिरिक्त क्या भारतीय सभ्यता में भी कोई समान तत्व है। बाद में, हम भारतीय संस्कृति की वर्तमान स्थिति का सर्वेक्षण करेंगे और बतायेंगे कि एक समान तत्व हमेशा रहा है और आज भी विद्यमान है, यद्यपि एक ओर विदेशी आक्रमण और दूसरी ओर अलगाववादी आंतरिक शक्तियां भी निरंतर रहीं और उसके विरुद्ध कार्य करती रहीं।

प्राकृतिक वातावरण, भौतिक संस्कृति को प्रभावित करने के साथ ही साथ, मनुष्य के शरीर और आकृति को स्वरूप प्रदान करता है। भारत के लोगों की आकृतियों में भले ही कितना ही स्पष्ट अंतर हो, किंतु कुछ ऐसी विशिष्टताएं हैं जो अन्य देश के लोगों से उनकी अलग पहचान प्रकट करते हैं। प्राकृतिक वातावरण का यह सीधा प्रभाव उनके शारीरिक विकास में स्पष्ट दिखता है। किंतु उनके चरित्र और स्वभाव पर, उनके मानसिक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन पर, उसका अप्रत्यक्ष असर उतना स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए कुछ विस्तार से यह समझाना आवश्यक है कि किस प्रकार भौगोलिक तथ्यों, विशेषकर देश की जलवायु ने, एक समान दृष्टिकोण एवं प्रकृति दी है तथा उनके विचार और क्रियाओं को एक सांचे में ढालने में वे सहायक हुए हैं।

भारतीय धारणाओं पर खुले मन से विचार करें, जो कुछ आधुनिक औद्योगिक शहरों के कारण आयी हैं, और एक विस्तृत क्षेत्र को ग्रीष्म ऋतु की चांदनी रात की रहस्यमय शांति में डूबा हुआ देखें। आपने अपने दिन का काम समाप्त कर लिया है और

शय्या पर आराम के लिए आ गये हैं। किंतु दिन में झपकी ले लेने के कारण आपको नींद नहीं आ रही है। अकेलेपन की अनुभूति, जो भारत में ग्रीष्म ऋतु के नीरस वातावरण की सामान्य बात है, और गहरी हो गयी है। आप ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे बड़े अनंत, ब्रह्मांड में, आप और तारों से आच्छादित स्वर्ग के सिवा कुछ नहीं है। कुछ क्षण के लिए, आपकी सभी अनुभूतियां और चाह, प्रज्ञान और इच्छाएं, यथार्थ में आपका संपूर्ण स्व, किसी बात में डूबा हुआ है, जिसे अधिक अच्छे शब्द के अभाव में चिंतन या भावातीत ध्यान कहा जा सकता है। ऐसी मनःस्थिति में, अंतर बताने वाली, इंद्रियानुभूतियां गायब हो जाती हैं, और व्यक्तिनिष्ठ एकात्मकता के अनुभव, अचेतन में, वस्तुनिष्ठ दुनिया में स्थानांतरित हो जाते हैं। बुद्धि, जिनका काम हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में एकात्मकता उत्पन्न करना, सभी कृतियों को एक समान मानना है, और कल्पना जो अर्थ और ज्ञान की बाधाओं से मुक्त है, यह एकात्मकता महसूस करने लगती है।

यह एक ऐसा ही वातावरण है, जिसमें भारतीय मस्तिष्क बढ़ा और विकसित हुआ है, इसलिए स्वाभाविक रूप से उसके दो प्रमुख लक्षण हैं—चिंतन की क्षमता, जो अन्य मानसिक शक्तियों पर प्रभावी रहती है, और विविधता में एकता देखने और महसूस करने की क्षमता। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि विचारों का भारतीय मूल्यों की दृष्टि से हमेशा ऊंचा स्थान रहा है। किंतु यह विशुद्ध अमूर्त या काल्पनिक नहीं, बल्कि भावात्मक विचार थे; अर्थात् केवल ब्रह्मांड की धारणा नहीं, उसका सीधे अंतर्ज्ञान बोध है, जिसमें विचारक उस विचार के उद्देश्य के प्रति प्रेम और आदर में अपने को डूबा हुआ महसूस करता है। ऐसा चिंतन दार्शनिक होने की अपेक्षा धार्मिक अधिक है। यही कारण है कि धर्म दर्शन ने हमेशा भारत के सांस्कृतिक जीवन में प्रमुख स्थान बनाया है। इसी तरह, ऊपर बताये गये दूसरे लक्षण के कारण, भारतीय मस्तिष्क ने ब्रह्मांड की व्याख्या देने और विचार गढ़ने में विविधता की अभिव्यक्ति को एकता में बदलने का प्रयत्न किया है।

ऊपर जो भी कुछ कहा गया, उसे हम गलत रूप में न लें। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि भारतीय मस्तिष्क की इन विशिष्टताओं को या अन्य जिनका बाद में उल्लेख किया जाना है, पूर्णतया मूल्यवान हैं या कि हम उनसे संबद्ध खतरों से परिचित नहीं हैं। हम इस तथ्य के प्रति पूरी तरह सचेत हैं कि अलग अलग व्यक्तियों के साथ ही, समूह के लोगों के स्वाभाविक झुकाव एक तरफा होते हैं और व्यक्तिगत या राष्ट्रीय चरित्र के समुचित विकास के लिए यह जरूरी भी है, जिससे कि संयम और उत्साह का एक मिला-जुला आचरण उनमें उत्पन्न हो सके। इसके अतिरिक्त, यह एक मान्य तथ्य है कि अलग अलग व्यक्तियों या पूरे राष्ट्र की मूलभूत प्रवृतियों को पूरी तरह बदला नहीं जा सकता। उसकी स्वयं की स्वाभाविक क्षमताओं के द्वारा कुछ सीमा तक सुधार किया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुधा निराधार कल्पनाओं का भारतीय मस्तिष्क पर ऐसा प्रभाव रहता है कि वह कर्म शक्ति को कमजोर बना देती हैं। इस कारण भारतीय

विचारकों को उसके विरुद्ध विद्रोह करना पड़ा। इसी प्रकार एकता के प्रति प्रेम और उसकी खोज को कभी कभी उस अंतिम सीमा तक ले जाया गया कि जिससे भौतिक विश्व की रचना के विविध आयामों की वास्तविकता को नकारा जा सके। तब संतुलन वापिस लाने के लिए विशुद्ध भौतिकवादी पक्ष की वास्तविकता पर बल देना होगा। किंतु संपूर्ण रूप से विविधता में एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान और विचारों की सर्वोच्चता, भारतीय मस्तिष्क की मूल्यवान विशेषताएं हैं और जो भारतवर्ष में विकसित होने वाली सभी संस्कृतियों में प्रतिबिंबित होती हैं।

भारतीय मस्तिष्क की इन विशिष्टताओं ने लोगों के नैतिक मूल्यों पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। हमने पहले ही इस बात की ओर ध्यान दिया कि यथार्थ में चरम वास्तविकता की आशंका को, वह उच्चतम मूल्य मानता है और व्यावहारिक मूल्यों को नीचा स्थान देता है। इसी प्रकार, एकता की जीवन के सिद्धांत की तरह अवमानना उसे, नैतिक व्यवस्था के आधार के रूप में, संघर्ष की अपेक्षा सद्‌भावना को महत्व देने की ओर ले जाती है। इस संबंध में, भारतीय मस्तिष्क और आधुनिक पाश्चात्य मस्तिष्क के बीच का तुलनात्मक अंतर स्पष्ट होता है। पाश्चात्य मस्तिष्क मनुष्य और उसके प्राकृतिक वातावरण के बीच के संघर्ष को बड़ा नैतिक महत्व देता है, और प्रकृति पर विजय को सांस्कृतिक विकास की कुंजी मानता है किंतु दूसरी ओर भारतीय मस्तिष्क ऐसे वातावरण में विकसित हुआ है, जो गर्म जलवायु, उपजाऊ भूमि, भरपूर उत्पादन क्षमता और सहज संचार माध्यम की देन है। इसलिए उसका प्रकृति से सामान्य संबंध, संघर्ष का नहीं सद्‌भावना का है। उसकी मूल नैतिक चेतना ऐसा नहीं मानती कि संसार बुराइयों से भरा हुआ है, जिससे मनुष्य को लड़ना और विजय पाना है, बल्कि यह एक ऐसा स्थान है, जहां अच्छाइयों तथा न्याय का नियम चलता है, जिसके अनुसार मनुष्य को अपना जीवन बनाना चाहिए। यदि संसार के साथ, इन समन्वय के विचारों को, जीवन के उच्चतम मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में लगाया जाये, तो यह जीवनदायी व्यावहारिक आदर्श बन सकता है, अन्यथा निष्क्रियता और दैवीनाश में उसकी परिणति होगी।

कोई ऐसी अपेक्षा करेगा कि मस्तिष्क, जिसमें चिंतन प्रभावी होता है, में काम वासनाएं और इच्छाएं बहुत प्रबल नहीं होंगी, किंतु भारतीय स्वभाव जो भावना प्रधान और कल्पनामय होता है, के संबंध में पूरी तरह ऐसा नहीं होता। भावुकता और इन्द्रिय जन्यता, भारतीयों के प्रमुख लक्षण हैं, किंतु चूंकि ये प्रवृतियां निराधार कल्पनाओं की विरोधी हैं, उन्हें दबाने की तीव्र कोशिश की जाती है। देश के सांस्कृतिक इतिहास में हम यह पतन, स्वच्छंदता और दमन का प्रवाह, आसक्ति और आत्मत्याग निरंतर देखते हैं और इसका सबसे बुरा समय वह रहा, जबकि लोगों के जीवन में आसक्ति की भावना बहुत प्रबल रही। फिर भी, बाद में उससे स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई और आत्मत्याग ने संग्रहीत अशुद्धता की आत्मा को साफ करने तथा सामान्यता की स्थिति

लाने में जुलाब का कार्य किया।

संपूर्णता में हमने देखा कि देश के अधिकांश भागों में, मौसम के परिवर्तन में कुछ नियमितता और सामान्यता रहती है। वर्षा, जिसमें एक वर्ष से दूसरे वर्ष में काफी अंतर रहता है, को छोड़ दें तो जलवायु साधारण रूप में एक-सी रहती है। प्रत्येक मौसम एक निश्चित समय में प्रारंभ होता है और उसकी गहनता एक निश्चित सीमा के अंतर्गत क्रमशः परिवर्तित होती जाती है। महाप्रलय की स्थिति, जिससे प्राकृतिक प्रक्रिया के सामान्य कार्य में बाधा उत्पन्न होती है, बहुत कम ही आती है। ज्वालामुखी नहीं उभरते तथा भूकंप भी कभी कभी ही मामूली से होते हैं। साधारण गति के तूफान से अधिक शक्तिशाली प्राकृतिक दुर्घटनाएं लोगों के द्वारा अनुभव नहीं की जातीं। प्रकृति की प्रक्रियाओं की नियमितता और निरंतरता का एक लंबे समय से अवलोकन होने के कारण, भारतीय मस्तिष्क कितना प्रभावित हुआ है। सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव, शायद यह अनुभूति रही है कि नैतिक नियम उतने ही नियमित और निरंतर चलने वाले होते हैं, जितने प्राकृतिक नियम। आदिम अवस्था में मनुष्य नैतिक और भौतिक संसार के बीच कोई अंतर नहीं देखता था। उसके नैतिक नियम पूर्णतया प्रकृति के अवलोकन पर आधारित थे। इसलिए भारतीय मस्तिष्क ने प्रारंभ से दृढ़तापूर्वक इस सिद्धांत को माना कि प्रत्येक क्रिया के नैतिक परिणाम, उतने ही निश्चित, न टाले जा सकने योग्य हैं, जितना कि एक मौसम के बाद दूसरे मौसम के आगमन के क्रम का निरंतर चलते रहना। भारतीय मस्तिष्क के अनुसार नियतिवाद का सिद्धांत वास्तव में नैतिक नियमों और प्राकृतिक नियमों के क्रियान्वित होने के बीच की एक कड़ी है, जो घातक बन सकती है। इसका सार यह है, कि भौतिक संसार में मनुष्य की क्रियाओं के जो परिणाम सामने आते हैं, वे कुछ सीमा तक प्रकृति के नियमों पर निर्भर होते हैं, जिन पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं है। स्पष्ट है, कि यह धारणा अपने आप में तो आपत्तिजनक नहीं है, किंतु ह्रास के समय, जिस प्रकार भारतीय मस्तिष्क की शांत प्रवृति, उसे निष्क्रियता की ओर ले जाती है, उसी प्रकार नियतिवाद का सिद्धांत भी घातक बन सकता है।

भारतीय मस्तिष्क की एक दूसरी विशिष्टता और है, जो भी, नियमितता और निरंतरता के नियमों के प्रभाव से उत्पन्न हुई है, जिसके अनुसार विश्व के इस हिस्से में प्रकृति के नियम कार्यान्वित होते हैं, अर्थात् भारतीयों के विचारों और क्रियाओं में जो परिवर्तन होते हैं, वे अचानक नहीं बल्कि क्रमशः आते हैं। दूसरे उनके होने का नियम क्रांति नहीं, क्रमिक विकास है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय मस्तिष्क किसी बड़े परिवर्तन के योग्य नहीं है या कि उसके लिए वह बहुत लंबा समय लेता है। हम जो व्यक्त करना चाहते हैं, वह यह है कि परिवर्तन की प्रक्रिया हर कदम पर महसूस की जा सकती है और उसकी अवस्थाएं साफ साफ निर्धारित की जा सकती हैं। क्रमिक विकास और क्रांति के बीच का मुख्य अंतर यह है, कि पहले में विकास के क्रम में हम सभी कड़ियों को देख सकते हैं, जबकि बाद वाली स्थिति में कुछ संबंधित कड़ियां महसूस नहीं होतीं

और इसलिए जब शृंखला पूर्ण रूप से सामने आती है तब हम अचानक गहरा धक्का अनुभव करते हैं। भारतीय मस्तिष्क इस तरह के तेज झटकों का आदी नहीं है, क्योंकि नये विचारों और आंदोलनों के प्रति, उसकी प्रतिक्रिया सचेत और क्रमिक होती है।

हमने पूर्व में देखा है कि किस प्रकार, देश के कुछ भागों में गर्म और कुछ भागों में साधारण गर्म जलवायु, भूमि के उपजाऊपन तथा भरपूर जल ने, भारतवर्ष को कृषि योग्य बना दिया है। इसलिए, यहां जैसे ही जमीन को जोतने के लिए अपरिष्कृत साधन भी उपलब्ध हुए, कृषि प्रारंभ कर दी गयी। नियम के अनुसार, जिस समुदाय ने, बहुत पहले, कृषि व्यवसाय को अपनाया, वे मातृ सत्तात्मक थे, और उनमें कुटुंब और सामाजिक जीवन के प्रति गहरा लगाव था। वे सब रचनात्मक गुण, जो सांस्कृतिक विकास के लिए जरूरी हैं, ऐसे समुदाय में मुख्य रूप से पाये जाते रहे, उनकी अपेक्षा, जो मूल रूप से घुमक्कड़ थे। वे शांतिप्रिय और मानवतावादी अधिक थे। इसीलिए देश के कुछ भागों में अर्थात् सिंधु के कछार में, संस्कृति प्रारंभिक अवस्था से निकलकर आर्यों के आगमन से 2,000 वर्ष पूर्व, विकास की मध्यम स्थिति में पहुंच गयी। बाद में बहुत से बद्दू जीवन के लोग तथा युद्धोन्मादी देश में आये और उनके संपर्क से राष्ट्रीय प्रवृति में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। किंतु पारिवारिक जीवन के प्रति भावनात्मक गहरायी, शांति और दया के प्रति प्रेम, ऐसे गुण, हमेशा भारतीय चरित्र के महत्वपूर्ण अंग रहे और आगे भी रहेंगे।

कृषि प्रधान जीवन तथा सामान्य भौगोलिक दशाओं का, राजनैतिक ढांचा बनाने तथा देश के विकास में, महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्पष्ट है कि कृषि प्रधान देश में जनसंख्या कुछ ही शहरों में केंद्रित नहीं रहती, बल्कि गांवों में बिखरी होती है। आज भी देश में शहरों की जनसंख्या अपेक्षाकृत कम है। भारत में 80 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती है जो बहुत से भागों में एक दूसरे से काफी दूर दूर हैं। इतिहासकारों के अनुसार प्राचीन युग के अंतिम समय तक, देश की जनसंख्या दस करोड़ से अधिक नहीं हुई और इसीलिए अधिक फैलाव रहा, और गांव एक दूसरे से अधिक दूर दूर बसे हुए थे। ऐसी स्थिति में राजनैतिक विकास की दिशा विकेंद्रीयकरण की ओर होती है। इस कारण, बिल्कुल प्रारंभिक अवस्था से ब्रिटिश हुकूमत के आगमन के समय तक, भारत में प्राथमिक राजनैतिक इकाई गांव थी, जिसमें ग्रामीण समुदाय की स्वाभाविक प्रवृतियां, ग्रामसभा या पंचायत के रूप में प्रकट होती थीं। किंतु कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण, प्रजातंत्र स्थानीय स्तर तक ही सीमित रहा।

इस तरह भारतवर्ष में प्रजातांत्रिक प्रणाली, नवजात अवस्था में हमेशा रही, चाहे संपूर्ण रूप में उसका अपना विकास नहीं हो सका। एक दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यद्यपि भारतवर्ष सामान्य रूप से अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभाजित रहा, और जब कभी विस्तृत साम्राज्य की स्थापना हुई भी तो वह एक शिथिल संघ के रूप में ही कार्य करता रहा, किंतु भारतीय मस्तिष्क में राजनैतिक एकता की भावना का हमेशा गहरा प्रभाव रहा। यह इतना अधिक था कि विभिन्न मतों के विचारकों, जैसे कौटिल्य, मनु, विष्णु,

याज्ञवल्क्य और अन्य के द्वारा विकसित राज्य के सिद्धांतों में एक समान विचारधारा रही, कि एक आदर्श प्रशासक के लिये यह जरूरी है कि वह देश के अन्य राज्यों पर विजय प्राप्त करे और उन्हें एक ही प्रशासकीय नियंत्रण के अंतर्गत लाये। इसके साथ ही साथ, विजयी राजा के लिये, उसमें यह सुझाव है कि वह विजयी क्षेत्र का प्रशासन उसके शासक परिवार के किसी सदस्य को सौंप दे और उसकी प्राचीन सामाजिक प्रथाओं और रीति रिवाजों को सुरक्षित रखे। इस प्रकार राजनैतिक संगठन की दृष्टि से भी हम इसमें भारतीय मस्तिष्क को प्रभावित करने वाला वही विविधता में एकता का विचार पाते हैं।

भारतीय मस्तिष्क के लक्षणों तथा उसके विशेष प्राकृतिक और आर्थिक पर्यावरण में उत्पन्न प्रवृतियों को दर्शाने वाले कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं। वे स्थायी तथा एक समान तत्व के रूप में सभी संस्कृतियों में व्याप्त हो जाते हैं, चाहे वह यहीं उत्पन्न हुई या बाहर से आयी और इसी देश में विकसित हुई। इन समान लक्षणों का कुल निष्कर्ष यह है कि राष्ट्रीय मस्तिष्क का व्यक्ति के जीवन के साथ वही संबंध है, उसे अपनाया जा सकता है या विकसित किया या सुधारा जा सकता है किंतु उसे समाप्त नहीं किया जा सकता, दबाया नहीं जा सकता या पूरी तरह से परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

किंतु संस्कृति की रचना के लिये भौतिक—सामाजिक पर्यावरण का प्रभाव कई तत्वों में से केवल एक है—वास्तविक तत्व है। अन्य दूसरा महत्वपूर्ण तत्व वैचारिक है—जैसे विचार, विश्वास, सिद्धांत, जिनकी स्वयं की उत्पत्ति उच्च मूल्यों की चेतना से होती है। यह बाद का तत्व, जैसाकि हमने देखा है किसी स्थान विशेष में सीमित नहीं रहता, बल्कि एक देश से दूसरे देश में अपना रास्ता बना सकता है और निश्चित ही बनाता है। यदि हम विश्व इतिहास की ओर देखें तो हमें अनेक उदाहरण मिलेंगे कि किस प्रकार एक धर्म या दर्शन का एक राजनैतिक या आर्थिक सिद्धांत की उत्पत्ति, विश्व के एक भाग में होती है और कालांतर में उसका अन्य भागों में विस्तार हो जाता है। भिन्न भिन्न भौगोलिक वातावरण में विभिन्न संस्कृतियां, उनकी विशेष आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अंतर्गत, उसे पूर्णरूपेण या अंशों में मान्य करती है।

इस तरह जब हम भारतीय मस्तिष्क के वैचारिक पहलू पर विचार करते हैं हमें स्मरण रखना होगा कि प्रथम स्थिति में विचार जिन्होंने इस मस्तिष्क को बनाया है, वे सब इसी भूमि में ही उत्पन्न नहीं हुए, बल्कि बाहर से भी आये हैं। दूसरे उन्होंने विभिन्न वर्ग और समूहों के लोगों को अलग-अलग मात्रा में प्रभावित किया है, जिसके परिणामस्वरूप हम भारत में विभिन्न धर्म और संस्कृतियां पाते हैं, किंतु उसमें कुछ ऐसा अंश भी है जो समान विचार वाले लोगों के द्वारा आत्मसात कर लिया गया है और विभिन्न वर्गों के लिये सबसे बड़ा आम उपाय बन गया है। यदि हम भारत के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करें, तो पायेंगे कि जब कभी यहां नयी विचारधारा का जन्म हुआ या कोई नया विचार बाहर से आया तो उसके परिणामस्वरूप पहले से

चल रहे मतभेद अस्थायी रूप से और बढ़ गये। किंतु शीघ्र ही भारतीय मस्तिष्क ने विविधता में एकता लाने की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी और कुछ समय बाद परस्पर विरोधी तत्वों में एक नयी संस्कृति की आधारशिला रखने के लिये सांमजस्य स्थापित हो गया। वर्तमान समान संस्कृति की समस्याओं के समाधान के लिये, हमें यह जानना जरूरी है कि इस समस्या को पूर्व में, विभिन्न अवसरों पर, किस प्रकार हल किया गया।

अन्य देशों की भांति भारत के सांस्कृतिक इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्राचीन, मध्यकालीन तथा वर्तमान। किंतु यह स्मरण रखना जरूरी है कि भारतीय इतिहास के इन तीन काल खंडों का समय की दृष्टि से योरोपीय काल खंडों से मिलान नहीं होता। भारत का प्राचीन इतिहास ईसा के लगभग 5000 वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ और 10वीं शताब्दी के अंत तक चला। मध्यकाल 18वीं शताब्दी तक हुआ और आधुनिक काल केवल पौने तीन शताब्दी पुराना है।

प्राचीन काल के प्रारंभ से लगभग 1000 वर्ष बाद, भारत में पहली बार राष्ट्रीय संस्कृति की स्थापना हुई। यह वैदिक हिंदू संस्कृति थी जो वैदिक आर्य और पूर्व आर्य संस्कृतियों के पारस्परिक प्रभाव के परिणामस्वरूप आयी। कुछ समय बाद इस संस्कृति के कुछ पहलुओं के विरुद्ध प्रतिक्रियायें हुईं और बौद्ध धर्म एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति का आधार बन गया। यथापि बौद्ध मत का भारतीय मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव रहा, किंतु राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में वह अधिक समय तक टिक नहीं सका। इसके ह्रास के बाद, नयी हिंदू संस्कृति का जन्म हुआ, जो देश के सांस्कृतिक जीवन की अनेक परस्पर विरोधी प्रवृतियों में सामंजस्य स्थापित करने से संभव हुआ। पूर्व की हिंदू संस्कृति से अंतर करने के लिये इसे पौराणिक संस्कृति कहा जा सकता है।

प्राचीन काल के अंतिम समय में, मुसलमानों के आगमन से बहुत पहले, भारत का सांस्कृतिक जीवन पुनः अव्यवस्थित हो गया था, किंतु दिल्ली सुल्तानियत की स्थापना के बाद, संस्कृतियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया नये सिरे से प्रारंभ हो गयी और मुगलकाल के प्रारंभ होने के समय तक हिंदू-मुस्लिम संस्कृति, हिंदुस्तानी संस्कृति का बड़ा भवन बनकर तैयार हो गया। एक बार एक नया और महत्वपूर्ण अंतर आया कि हिंदुस्तानी संस्कृति धर्म पर नहीं बल्कि राजनैतिक अर्थों में कुछ आधारहीन भावनाओं पर आधारित हुई।

इस पुस्तक में आर्यों के आगमन से मुगलकाल के अंत तक की, राष्ट्रीय संस्कृति के विकास की सभी अवस्थाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना चाहता हूं। इसके बाद में यह विवेचना प्रारंभ करूंगा कि ब्रिटिश सत्ता के आगमन से, पाश्चात्य संस्कृति की प्रभावी स्थिति के परिणामस्वरूप, राष्ट्रीय संस्कृति किस प्रकार पीछे पृष्ठभूमि में धकेल दी गयी और क्यों भारतीय संस्कृति का पाश्चात्य संस्कृति के साथ संपर्क एक नया मिश्रण उत्पन्न करने में असमर्थ रहा जो कि एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति को आधार दे सकता था।

इसके बाद मैं भारत में वर्तमान सांस्कृतिक आंदोलन की प्रवृतियों की विवेचना करूंगा कि किस दिशा में उनका नवीकरण किया जाये, जिससे कि एक उन्नत सद्‌भावनामय राष्ट्रीय संस्कृति के विकास में एक बार फिर सहायता हो सके।

2. मूल स्त्रोत : सिंधु घाटी संस्कृति

(3250 ईसा पूर्व—2000 ईसा पूर्व)

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक, इतिहासकारों का यह मत रहा है कि भारत में संस्कृति की द्वितीय अवस्था, आर्यों के लगभग 1500 वर्ष ईसा पूर्व आगमन के बाद प्रारंभ हुई, इसलिए वह भारतीय संस्कृति प्राचीन संस्कृतियों में सबसे नयी मांनी जाती थी। किंतु इस शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में भारत के पुरातत्व विभाग द्वारा, पश्चिमी पंजाब के हड़प्पा में और सिंध के मोहनजोदड़ो में किए गये उत्खनन से, आश्चर्यजनक खोज सामने आयी कि उसके बहुत पहले कांस्य युग में सिंधु की घाटी में काफी उन्नत शहरी सभ्यता विद्यमान थी। देश के अन्य भागों में, बाद के उत्खनन से, अभी तक यह उद्‌घाटित हुआ है कि क्षेत्र की दृष्टि से, यह संस्कृति संपूर्ण पंजाब, सिंध, बलोचिस्तान और काठियावाड़ के काफी बड़े भाग में, एक ओर पश्चिम उत्तर प्रदेश और दूसरी ओर पश्चिम के तटीय क्षेत्र दक्षिण के एक हिस्से तक फैली हुई थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह संस्कृति ईसा के 3000 वर्ष पूर्व अपने चरम बिंदु पर पहुंच गयी थी। किंतु यह अस्तित्व में कम से कम उसके 250 वर्ष पूर्व आयी और ईसा के लगभग 2000 वर्ष पूर्व तक रही, जबकि शायद पश्चिम के बर्बर गिरोहों के द्वारा वह नष्ट कर दी गयी थी। इसलिए एलम, सुमेरिया, बेबीलोनिया, प्राचीन ईजिप्ट और प्राचीन चीन के साथ, इसकी गणना संसार की सबसे प्राचीन संस्कृतियों में की जानी चाहिए। भारत के दक्षिण द्रविड़, जो सिंधु घाटी सभ्यता के निकट संपर्क में थे, 2000 ईसा पूर्व में सांस्कृतिक जीवन की उच्च अवस्था में पहुंच गये थे और आर्यों के आगमन के पूर्व की सदी तक, सभ्यता की मशाल को जलाये रखा, जबकि उत्तर भारत अंधकार में डूबा हुआ था। इस तरह हम सही अर्थों में यह कह सकते हैं कि भारत ने करीब करीब 5000 वर्ष पूर्व उद्‌भव के समय से, सांस्कृतिक जीवन की उच्चता को कायम रखा। चीन के अतिरिक्त और कोई देश, सभ्यता को इतने लंबे समय तक बिना किसी रुकावट के कायम रखने का उदाहरण प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं है।

सर जान मार्शल के अनुसार मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में पाये जाने वाले प्राचीन नगरों के अवशेष यह प्रदर्शित करते हैं कि इन नगरों में निवास करने वाले लोग, सभ्य जीवन के जिस स्तर पर पहुंच गये थे, वह प्राचीन बेबीलोन और ईजिप्ट के निवासियों के

जीवन स्तर की तुलना में ऊंचा था तथा सुमेरियनवासियों की बराबरी पर था। सुनियोजित चौड़ी सड़कों के जाल, सिंचाई के लिए नहरें और गंदगी बाहर करने वाली नालियों से युक्त वे बड़े नगर थे। इससे यह प्रकट होता है कि उन्होंने केवल सिविल इंजीनियरिंग में ही अच्छी प्रगति नहीं की थी, बल्कि उन्हें नगर नियोजन का भी कुछ ज्ञान था और उनमें म्यूनिसिपलिटी या लोकल बोर्ड के समान कोई संस्था कार्यरत थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में पुरातत्वीय खोज से यंत्र, हथियार और बर्तन प्राप्त हुए। वे मिट्टी, तांबे और कांस्य के बने हुए हैं। मनुष्यों और पशुओं की आकृतियां, जो पकायी हुई मिट्टी और कांस्य से बनाये गये थे, बहुत अधिक मात्रा में पाये गये हैं। इनमें सबसे अधिक पंखे के आकार की टोपियां पहने हुए अर्द्धनग्न महिलाओं की आकृतियां हैं। इससे उनके द्वारा मां देवी की पूजा किया जाना प्रकट होता है। किंतु उस युग की कला के सबसे अच्छे उदाहरण हैं मुहरें जिन पर ब्रह्मणी सांडों, हाथियों, भैंसों, शेरों आदि के चित्र अंकित हैं या चित्रलिपियां उत्कीर्ण की गयी हैं। सोने के आभूषण, मणिकाएं, हाथीदांत की तश्तरियां और बाल पिन आदि विभिन्न उद्योगों द्वारा किये गये उल्लेखनीय प्रगति के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। सोने और चांदी के आभूषण विशेष तौर से, सर जान मार्शल के शब्दों में—इतनी अच्छी सफाई से बनाये गये थे तथा ऐसी उच्च स्तर की पालिश की गयी थी, कि जैसे वे 5000 वर्ष पूर्व के प्रागैतिहासिक घर से नहीं बल्कि आज के बाण्ड स्ट्रीट के जौहरियों के यहां से ही आये हों। इसके अतिरिक्त सबसे उल्लेखनीय बात यह थी कि सिंधु घाटी में लोगों ने केवल कपास उत्पादित करना ही नहीं सीखा था बल्कि सूती कपड़े के उद्योग को विकसित किया था, जिससे सदियों बाद तक अन्य देश अनभिज्ञ थे। सिंधु घाटी की मुहरों की, मेसोपोटामिया, अरब और पश्चिम एशिया के अन्य देशों में खोज व्यावसायिक तथा सांस्कृनिक संबंधों का संकेत देती है, जो भारत और इन देशों के बीच कायम रहा होगा।

चूंकि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की मोहरों पर अंकित चित्रलेखों का अभी तक अर्थ नहीं निकाला जा सका, हम सिंधु घाटी के प्राचीन निवासियों के मानसिक और आध्यात्मिक जीवन के संबंध में बहुत कम जान सके हैं। प्राप्त सामग्री के आधार पर, वह सब जो हम कह सकते हैं, यह है कि उनके धार्मिक विश्वास और व्यवहार कुछ सीमा तक हिंदुत्व में प्रतिबिंबित हैं। मुहरों पर अंकित आकृतियां पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि वे शक्तियों, देवी की पूजा करते थे और उन्हें बकरों तथा अन्य पशुओं की बलि चढ़ाते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये दोनों प्रथाएं हिंदुओं ने उनसे ग्रहण कीं। कुछ मुहरों पर शिव के समान भगवान का रूप देखा गया है। इनमें से एक पर उन्हें, सींगोंवाला, मुकुट पहने हुए तीन मुखों वाला बताया गया है, हिंदुओं ने बाद में जिसके स्थान पर त्रिशूल कर दिया। नदियों, पशुओं तथा पीपल आदि वृक्षों की पूजा की जानकारी भी उसी काल से मिलती है। पशुओं में संभवतः सांड, भैंसा, शेर और हाथी को पवित्र माना जाता था। हिंदू पुराण में सांड शिव का वाहन बन गया। स्वास्तिक और चक्र का सूर्य के प्रतीक के रूप

में उपयोग उसी काल से प्रारंभ हुआ।कुछ विद्वान यह सोचते हैं कि यजुर्वेद और अथर्ववेद में आत्मा और जादू पर विश्वास करने पर बल दिया गया है, और ऋग्वेद की शिक्षाओं से जिसका मेल नहीं है, वह सिंधु घाटी की सभ्यता की परंपराओं के कारण हुआ। इस सभ्यता के प्रवर्तकों के मूल के संबंध में मत भिन्न हैं। कुछ उन्हें अप्रवासी आर्य या सुमेरियन मानते हैं और कुछ द्रविड़ के रूप में। किंतु अधिकांश विद्वान सहमत हैं कि वे भू-मध्यसागर के तट से आने वाली जातियों के मिश्रण के साथ प्राचीन दक्षिणी प्रजाति के थे। किंतु एक शहरी सभ्यता के स्तर पर पहुंचने के पूर्व, वे सदियों तक भारतवर्ष में रहे जिससे उनकी संस्कृति, सुमेरियन के साथ कुछ समानता होने के बावजूद भी, कुल मिलाकर आवश्यक रूप से भारतीय थी। बहुत संभव है कि जब आगे की खोज हमारे सामने, सिंधु घाटी सभ्यता का संपूर्ण चित्र प्रकट करेगी, तो हम उसमें सभी लक्षण पायेंगे, जो बाद में भारत की आम संस्कृति बन गये। अब भी विश्वास करने के लिए मजबूत कारण हैं कि द्रविड़ संस्कृति से, अभिन्न रूप से संबद्ध सिंधु घाटी संस्कृति अपनी अंतिम अवस्था में थी और दोनों का एक दूसरे पर गहरा प्रभाव था। बाद में हम पायेंगे कि द्रविड़ों का भारत की राष्ट्रीय संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान रहा। इसलिए सिंधु घाटी सभ्यता की भारत की संस्कृति को वर्तमान रूप देने में यदि सीधे भूमिका न रही, तो द्रविड़ संस्कृति के माध्यम से निश्चित ही अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है।

3. दो धाराएं : द्रविड़ संस्कृति और आर्यों की वैदिक संस्कृति

(2000 ईसा पूर्व—1000 ईसा पूर्व)

लगभग 2000 ईसा पूर्व, जबकि उत्तर-पश्चिम भारत में सिंधु घाटी सभ्यता जंगली आक्रमणकारियों द्वारा की गयी बरबादी से नष्ट हो रही थी, तब दक्षिण भारत में द्रविड़-तमिल संस्कृति विकास के बहुत ऊंचे स्तर तक पहुंच चुकी थी। पुरातत्वीय खोजों से, सिंधु घाटी संस्कृति और तमिल संस्कृति के बीच एक लंबे समय तक व्यावसायिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान के संकेत मिलते हैं। दक्खिन तथा दक्षिण भारत के अन्य भागों में ठीक वैसे अस्थिकलश और मिट्टी के बर्तन पाये गये हैं, जैसे कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में उपयोग किए जाते थे। सिंधु घाटी में उत्खनन से बहुत संख्या में सीप खोल और मोती प्राप्त हुए हैं जो अवश्य ही दक्षिण भारत से लाये गये होंगे। बलोचिस्तान के कुछ भागों में बोली जाने वाली ब्रोही भाषा में लगभग 50 प्रतिशत द्रविड़ शब्दों का पाया जाना इस बात का निश्चित प्रमाण है कि प्रागैतिहासिक काल में सिंधु घाटी और दक्षिण भारत के बीच बहुत निकट के सांस्कृतिक संबंध थे। स्पष्ट है कि ईसा के लगभग 2000 वर्ष पूर्व, सिंधु घाटी सभ्यता के विनाश के समय यह स्थिति रही होगी और उस समय तक, द्रविड़ संस्कृति बहुत ऊंचे स्तर पर पहुंच चुकी होगी जिससे कि वह उन्नत नगरीय सभ्यता पर गहरा भाषायी प्रभाव डाल सकी।

ईसा के 2500 वर्ष पूर्व का प्रारंभिक तमिल साहित्य देखा जा सकता है, और उसमें निश्चित प्रमाण हैं कि ईसा के 1000 वर्ष पूर्व के बहुत पहले दक्षिण भारत में, परंपरागत, तीन संगम (अकादमी) प्राचीन मदुराई, कपादापुरम, तथा आधुनिक मदुराई में स्थित थे। पहले संगम के सबसे प्रमुख सदस्य अगस्त्य थे, जिन्होंने 'अगाधियम' नाम से पहले तमिल व्याकरण की रचना की। ऐसी पौराणिक कथा है कि वे उत्तर के आर्य शिक्षक थे, जो दक्षिण भारत वैदिक धर्म के प्रचार के लिए आये थे। उनके बारह शिष्यों ने बड़ी संख्या में व्याकरण, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि पर पुस्तिकाओं की रचना की। इन पुस्तिकाओं में, लगभग 1000 वर्ष ईसा पूर्व लिखी गयी पुस्तिका 'टोकाप्पियम' अब भी विद्यमान है। यह प्रमुख रूप से तमिल व्याकरण के बारे में है किंतु प्राचीन द्रविड़ों के सांस्कृतिक जीवन

पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है।

प्रागैतिहासिक समय में दक्षिण भारत, द्रविड़ संस्कृति का वर्तमान घर, बहुत दूर दक्षिण के प्रायद्वीप तक फैला हुआ था। कालांतर में उसका बहुत सा भाग भयानक तूफान के कारण पानी में डूब गया। एक द्रविड़ समुदाय में, मातृ सत्तात्मक पद्धति का प्रभाव था और सामान्य रूप से द्रविड़ समाज में माताओं को ऊंचा स्थान प्राप्त था। जाति प्रथा में कट्टरता नहीं थी। परंतु बाद में, आंशिक रूप से जन्म और कुछ अंगों में व्यवसाय के आधार पर विभिन्न वर्ग बने। सबसे अधिक प्रचलित धार्मिक संप्रदाय देवी का था। विभिन्न वृक्षों, दानवों, प्रेतात्माओं और सर्पों (नागों) की भी पूजा की जाती थी।

द्रविड़, सभ्यता के एक ऊंचे स्तर पर पहुंच गये थे। उन्होंने कृषि तथा यांत्रिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की थी। सिंचाई के लिए नदियों के आर पार बांध बनाये गये थे और चारों ओर दीवार के साथ नगरों का निर्माण किया गया था। उनके उद्योग, विशेषकर सूती और ऊनी कपड़ों की बुनाई, रंग करने, मूल्यवान पत्थर लगाकर सोने और चांदी के आभूषण तैयार करने संबंधी उद्योग, साधारणतया काफी उन्नत अवस्था में थे। पूर्व और पश्चिम एशिया के देशों के साथ भूमि और समुद्र के द्वारा व्यापार किया जाता था। ईसा के 2000 वर्ष पूर्व दक्षिण भारत और ईजिप्ट के बीच सांस्कृतिक संबंध होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। द्रविड़ों की अपनी लिपि, अंक और कलैंडर थे। विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने जो उन्नति की उसका मूल्यांकन, उस युग में स्थापित तीन उच्च स्तरीय विद्या केंद्रों (अकादमियों) से किया जा सकता है, जबकि शेष दुनिया को इस तरह की संस्थाओं का ज्ञान नहीं था।

ईसा के लगभग 1500 वर्ष पूर्व, जबकि दक्षिण में द्रविड़ संस्कृति विकसित हो रही थी, तब सिंधु घाटी सभ्यता के विनाश के बाद, उत्तर-पश्चिम में अंधकार का समय समाप्त हो रहा था और अप्रवासी आर्य उत्साह और जीवन शक्ति से भरपूर नयी संस्कृति की नींव रख रहे थे। आर्यों के मूल स्थान के संबंध में काफी मतभेद है। पहले यह सामान्य मत था कि वे मध्य एशिया के निवासी थे, किन्तु बाद में इस क्षेत्र में खोज से कुछ विद्वान सोचने लगे हैं कि वे मूल रूप से स्केंडनेविया के रहने वाले थे और कुछ दूसरों का यह मत था कि यूराल पर्वत के पूर्व में एशियाई रूस के हिस्से के निवासी थे। किंतु निश्चिंतता से केवल यह कहा जा सकता है कि वे भारतवर्ष में उत्तर-पश्चिम से आये थे। उनकी देवताओं संबंधी वंदनाएं, जिनकी संभवतः उन्होंने भारत आने के बाद रचना की, बाद में ऋग्वेद में संग्रहीत कर ली गयी। ऋग्वेद हिंदुत्व का केवल एक पवित्र धर्मग्रंथ ही नहीं है, बल्कि भारतीय इतिहास का सबसे पुराना दस्तावेज है। बहुत से इतिहासकार यह सोचते हैं कि ऋग्वेद के श्लोकों की रचना ईसा पूर्व के 1500 से 1000 वर्ष के बीच में की गयी थी। आर्यों का धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन इन 500 वर्षों के समय में ऋग्वेद से गहरायी से प्रभावित था और हम उस काल के बारे में जो मानते हैं, वह उसका स्रोत भी

है । इस तरह यह वैदिक संस्कृति का काल माना जाता है ।

इस संस्कृति का केंद्र पूर्वी पंजाब में सतलुज और यमुना के बीच की भूमि थी और वह क्रमशः दोआब के पूर्व की ओर या यमुना और गंगा के क्षेत्र में फैल रही थी । आर्य अभी तक मूल आदिम जातियों को पूरी तरह वश में नहीं कर सके थे, जिन्हें वे दस्यु कहते थे और जिनके विरुद्ध वे लगातार युद्ध में संलग्न थे । वे अपने साथ घुमंतू आदिम संस्कृति लाये थे, किंतु उनके धार्मिक विचार और व्यवहार, उनकी युद्ध कला, उनका काव्य सामान्य रूप से उन्मत स्थिति में थे । भारत में उन्होंने स्थायी निवास के कृषकों की तरह रहना प्रारंभ कर दिया था और विभिन्न समुदायों ने अपने अपने छोटे ग्रामीण प्रजातंत्र स्थापित कर लिये थे ।

आदिम समाज के मुखियों की प्रतिनिधि संस्थाएं, जिन्हें सभा और समिति के रूप में जाना जाता है, राजा के नियंत्रण में शासन चलाती थीं । राजशाही सामान्यतया वंशानुगत चलती थी । राजा का मुख्य कार्य युद्ध भूमि में सेना का संचालन करना था । इसमें, उसकी सहायता मुख्य सेना नायक करता था । राजा के बाद, महत्व में दूसरा, महापुरोहित होता था, जो हवन आहुति के समारोहों की अध्यक्षता करता था और बहुत से मामलों में मंत्र के द्वारा रोग अच्छा करने के लिए चिकित्सक के रूप में कार्य करता था ।

प्रारंभ में आर्य समाज में दो वर्ग होते थे, कुलीन और आम आदमी, किंतु जातियों की कोई परंपराएं नहीं थीं । जब भारत में शांतिपूर्ण स्थितियों और स्थायी कृषि जीवन ने आर्यों को शांत बना दिया और उन्होंने मूल निवासियों से लड़ना बंद कर दिया तथा उन्हें अपनी सामाजिक पद्धतियों में सम्मिलित करना चाहा तब उनके अहम् के कारण वे इस बात में विशेष सावधानी रखते थे कि दस्युओं का रक्त उनके रक्त के साथ मिल न जाये । इसलिए दस्युओं की अलग जाति बन गयी, जिसे समाज में सबसे नीची स्थिति का शूद्र कहा जाता था और आर्य उनसे परस्पर विवाह के लिए प्रतिबंधित थे । बाद में सामाजिक प्रतिष्ठाएं अधिक महत्वपूर्ण एवं कठिन बन गयीं । आर्यों में स्वयं वंश परंपरागत जातियां बन गयीं—शासन और युद्ध करने वाले वर्ग (क्षत्रिय), पुरोहित (ब्राह्मण), किसान और व्यवसायी (वैश्य), जिनमें एक दूसरे वर्ग के बीच विवाह के लिए बंधन थे । इस सामाजिक वर्गीकरण को ऋग्वेद का संदर्भ देते हुए धार्मिक मान्यता दी गयी, इस अर्थ के साथ कि ब्राह्मण सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय उनकी भुजाओं से, वैश्य उनकी जांघों से तथा शूद्र उनके पैरों के तलुओं से निकले थे ।

समाज की मूल इकाई परिवार थी जिसका संचालन पितृ सत्ता पद्धति के द्वारा होता था । यह कहा जा सकता है कि पिता से पुत्र को जाने वाली सत्ता की परंपरा में, पिता को प्रमुख माना जाता था । मां से बड़े सम्मान का व्यवहार होता था । नियम के अनुसार अधिकांशतः विवाह में, एक पत्नी परंपरा का पालन होता था ।

आर्यों ने खेती करना प्रारंभ कर दिया था किंतु फिर भी पशुपालन का उनकी

अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान था, और भूमि जोतने की अपेक्षा उसे अधिक श्रेष्ठ व्यवसाय माना जाता था। पशुओं की कीमत ऊंची होती थी तथा मूल्य के मापदंड तथा आदान-प्रदान के माध्यम के रूप में उनका उपयोग किया जाता था। भेड़ें और बकरियां भी रखी जाती थीं, तथा घोड़ों का उपयोग युद्ध के रथ खींचने में किया जाता था। घर मिट्टी के बनाये जाते थे। कांसे के बर्तन तथा हथियार बनाने की कला बहुत विकसित हो चुकी थी। सूत कताई, बुनाई, रंग करने और बढ़ई तथा सुनारों के व्यापार भी आमतौर से बढ़ गये थे। गायन और नृत्य भी आम बात थी किंतु समय बिताने का सबसे लोकप्रिय माध्यम जुआ खेलना था। लोग नशीले पेय पदार्थ अधिकता से पीते थे। विशेषकर सोमरस, जिसे धार्मिक महत्व प्राप्त था जैसाकि सामवेद में देखा गया। फिर भी आर्य भौतिक सभ्यता की किसी अर्थपूर्ण स्थिति तक नहीं पहुंचे थे और उस समय तक नगरों का निर्माण करना नहीं सीखा था। किंतु अन्य प्राचीन युग के लोगों की अपेक्षा, उनकी धार्मिक चेतना, अधिक ऊंचे रूप में थी। वे न तो मंदिरों का निर्माण करते थे और न मूर्तियों की पूजा करते थे। उनकी निष्ठा अपने घरों में भट्टियों में आग जलाने, अपने देवता के लिए भजन गाने और चावल, दूध, सोमरस या पशु बलि के रूप में अर्पित करने में थी। भारत आने के पूर्व उनकी पूजा की वस्तुएं, प्राकृतिक घटक थे। उनके प्रमुख देवता, इन्द्र (गर्जना), वरुण, मित्रा, सूर्य सावित्र, पुषान, विष्णु, ऊषा, धरती, वायु, अग्नि थे। सोम वृक्ष को भी पवित्र माना जाता था।

भारत आने के बाद वे इन देवताओं की पूजा करते रहे, किंतु एकात्मकता फैलाने वाले देश के वातावरण में विविधता के दृश्य में वास्तविक एकता को देखा और दृष्टिगोचर होने वाले प्रकृति के संसार के पीछे प्राकृतिक देवताओं की उपस्थिति को महसूस किया जैसाकि ऋग्वेद के नीचे दिए हुए श्लोक से प्रकट होता है।

संपूर्ण ब्रह्मांड में जल के सिवा कुछ नहीं था
जल में अग्नि थी जिसने अकस्मात अपने को प्रकट किया।
एक उसकी छवि दिखाने जो सभी देवताओं की आत्मा है;
जिसे हम अपनी श्रद्धा अर्पित करेंगे
एक वह जिसने अपनी सर्वोच्च सत्ता से
जल को पीछे रोका और उसमें से शक्ति उत्पन्न की
जिसे हम अपनी श्रद्धा और त्याग अर्पित करेंगे
वह जो पृथ्वी और आकाश का सृजन करता है
जो नशीले विशाल महासागर का निर्माता है
प्रार्थना करो कि उसका क्रोध हम पर न गिरे
जिसे हम अपनी श्रद्धा और त्याग अर्पित करेंगे
हे ! ब्रह्मांड के स्वामी और कोई नहीं बल्कि तूने ही
संपूर्ण विश्व की सृष्टि का निर्माण किया है

हमारी प्रार्थना के ध्येय की पूर्ति करो
हमें सुख और संपत्ति प्रदान करो ।

द्रविड़ संस्कृति, दक्षिण भारत में और उत्तर-पश्चिम भारत में आर्यों की वैदिक संस्कृति, उन दिनों अलग अलग बहने वाली दो धाराएं थीं । किंतु ऐसा समय निकट था, जबकि दोनों के सम्मेलन से भारत की प्रथम राष्ट्रीय संस्कृति का जन्म होना था ।

4. प्रथम सम्मिलन : वैदिक हिंदू संस्कृति

(1000 ईसा पूर्व—600 ईसा पूर्व)

अगली चार शताब्दियों में साधारण वैदिक संस्कृति अपने विकास की उच्च अवस्था में पहुंच गयी और उसकी प्रक्रिया में उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया। आधारभूत परिवर्तन यह था कि एक ओर आर्यों के मस्तिष्क ने एकता के विचार को दार्शनिक गहरायी दी, जिसकी ऋग्वेद में पहले ही झलक मिलनी प्रारंभ हो गयी थी और दूसरी ओर उसने प्राचीन भारतीय परंपराओं को, जो द्रविड़ों से प्राप्त की थीं, धर्म का अभिन्न अंग बना लिया। इस तरह एक नया सामान्य धर्म विकसित हुआ जिसे हम वैदिक हिंदू धर्म कह सकते हैं, और जिसने एक नयी वैदिक हिंदू संस्कृति की नींव का काम किया। इन 400 वर्षों के बारे में, और जो सब हम ज्ञात कर सके हैं, वह हमें धार्मिक स्रोतों के तीन अन्य संग्रहों यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद तथा अन्य संबंधित साहित्य से प्राप्त हुआ। चार वेद, उनकी टीकाएं, ब्राह्मण, ब्राह्मणों की अनुक्रमणिकाएं, जिन्हें अरण्य कोष और उपनिषद् के रूप में जाना जाता है, अधिकांश लोगों के द्वारा हिंदुओं के घोषित धर्मग्रंथ माने जाते हैं। वे यही पुस्तकें हैं, जिन्होंने इतिहासकारों के आकलन के लिए सामग्री उपलब्ध की है।

परंपरा के अनुसार, इस काल के प्रारंभ में, महाभारत कहलाने वाला महायुद्ध, जिसमें भारत के सभी राज्यों के राजाओं ने भाग लिया, आसपास रहने वाले दो आर्य समुदायों कुरु और पंचाल के बीच लड़ा गया। इसका वेदों में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया किंतु उसमें संकेत हैं कि लगभग 900 ईसा पूर्व वहां बड़ा भयंकर विध्वंस हुआ, जिसके बाद आर्यों का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक केंद्र पूर्वी पंजाब से हस्तिनापुर गंगा के दोआब में कौरवों की राजधानी में स्थानांतरित हुआ। बाद में आर्य क्रमशः आगे पूर्व की ओर बढ़े और कोशल (अवध), काशी (बनारस), वत्स (इलाहाबाद के पास) और बिहार में विदेह तथा मगध राज्यों की स्थापना की। उसी समय उन्होंने दक्षिण की ओर बढ़ना प्रारंभ किया। रामायण की गाथा, जिसमें अयोध्या के राजा के पुत्र श्री रामचन्द्र को नायक बनाया गया है, यह संदर्भ देती है कि आर्यों द्वारा द्रविड़ों की सहायता से लंका के राजा के विरुद्ध लड़ा गया और अंतिम अध्याय में दी गयी अगस्त्य की पौराणिक कथा प्रकट करती है कि करीब करीब उसी समय आर्य मिशनरियां द्रविड़ों के बीच धर्म का प्रचार कर रही थीं।

अभी हाल में एक ऐसी धारणा बनायी गयी है, जिसके अनुसार रामायण की रचना महाभारत के बहुत पहले हुयी थी और दूसरी धारणा यह कि रामायण की कहानी आर्यों और द्रविड़ों के बीच युद्ध से संबंधित नहीं है, बल्कि युद्ध दो आर्य साम्राज्यों के बीच हुआ ऐसा संकेत करती है। उनमें से एक, जिसे लंका कहा गया और हम जिसे सीलोन या श्रीलंका के रूप में जानते हैं वह नहीं है, बल्कि यह वह स्थान है जो मध्यप्रदेश में स्थित है। किंतु दोनों धारणाएं विवादास्पद बन गयी हैं और सामान्य तौर से उन्हें अभी तक स्वीकार नहीं किया गया है।

जैसाकि हमने पूर्व में बताया, इस काल में राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था, और साथ ही भौतिक सभ्यता में बहुत अधिक उन्नति हुई। अब प्राथमिक आदिम प्रजातंत्र का स्थान सुव्यवस्थित राजतंत्रीय व्यवस्था के राज्यों ने लिया था। राजा सार्वभौम था किंतु निरंकुश शासक नहीं। ब्राह्मणों के परामर्श, प्राचीन परंपराओं तथा जनमत से उनका मार्गदर्शन होता था। राजाओं की राजधानियों ने नगरों का रूप ले लिया था तथा राजनैतिक महत्व के केंद्र ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों को स्थानांतरित हो गए थे। सभा और समितियों का महत्व पूरी तरह खो गया था। न्यायालयों के चारों ओर अभिजात वर्ग के लोगों का घेराव हो गया था और करीब करीब सभी लाभप्रद प्रशासनिक पदों पर उनका एकाधिकार हो गया था। राज्याभिषेक के धार्मिक समारोहों तथा अन्य उत्सवों और बाल प्रथा की परंपराएं प्रारंभ कर दी गयी थीं। इनमें सबसे प्रसिद्ध था अश्वमेध यज्ञ या घोड़े की बलि। इसका आयोजन एक राजा के द्वारा किया जाता था, जिसे देश के बड़े हिस्से के राजाओं द्वारा अधिपति के रूप में मान्यता दी जाती थी। राजा जो सम्राट बनना चाहता था उसके द्वारा देवताओं को समर्पित घोड़ा, देश भर में स्वतंत्र घूमने के लिए छोड़ दिया जाता था। वह घोड़ा जिस क्षेत्र से निकलता था उसमें स्थित प्रमुख अधिकारियों और राजाओं को उस राजा की स्वामिभक्ति स्वीकार करनी पड़ती थी, या लड़कर उस घोड़े को बंदी बनाना पड़ता था। यदि एक वर्ष में वह घोड़ा बंदी नहीं होता तो उसे राजधानी वापिस लाया जाता और बड़े उत्साह तथा साज-सज्जा से आयोजित समारोह में उसकी बलि चढ़ा दी जाती।

जहां तक भौतिक जीवन का संबंध है, आर्य पहले से, टीन, सीसा और उस काल के अंत में, सबसे उपयोगी धातु लोहे का उपयोग करने लगे थे। उन्होंने हाथी को पालतू बना लिया था और उसका उपयोग सवारी तथा माल ढोने के लिए करते थे। कृषि ने उल्लेखनीय विकास किया था। खेतों में विभिन्न तरीकों से खाद दी जाती थी और सिंचाई भी होती थी। नियमित व्यवसाय के रूप में अनेक हस्तकलाओं का विकास हुआ जैसे जौहरियों, स्वर्णकारों, लोहारों, टोकनी बनाने वाले, रस्सी बिनने वाले, बुनकर, रंगरेज, बढ़ई तथा कुम्हारों आदि के व्यवसाय। रस्सी पर चलने वाले नट, जादूगर, भविष्यवक्ता, बांसुरी बजाने वाले और नृत्यकार आदि भी बहुत बढ़ रहे

थे। केवल देश के अंतर्गत ही नहीं बल्कि मेसोपोटामिया से भी व्यापार में वृद्धि हुई। सिंधु घाटी सभ्यता के पतन के साथ यह व्यापार रुक गया था और बाद में पुनः प्रारंभ हो गया। किंतु उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि इतना अधिक आर्थिक विकास हुआ, किंतु वैदिक साहित्य में धातु की मुद्राओं का कोई उल्लेख नहीं है।

इस काल में सबसे अधिक विकास, धार्मिक और दार्शनिक विचारों पर केंद्रित रहा, जैसाकि उपनिषदों से प्रकट होता है। वैदिक साहित्य ब्राह्मणों की निधि थी, जिन्होंने अपनी स्मरण शक्ति को ऐसा विकसित कर लिया था जिससे इस संपूर्ण साहित्य को पढ़कर आत्मसात कर लें तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसे मौखिक रूप से संप्रेषित करें। यह प्रदर्शित करने के लिए कोई प्रमाण नहीं कि लेखन में समानता थी। किंतु उपयुक्त रूप में जो माना जा सकता है, वह यह है कि मेसोपोटामिया से व्यापार संबंध हो जाने पर कुछ लिपि भारत में आई तथा यह लिपि सुधार के साथ तथा भारतीय स्वरों के साथ सामंजस्य स्थापित किये जाने के बाद, मौर्यकाल में ब्राह्मी लिपि के रूप में विकसित हुई।

जैसाकि हमने पूर्व में बताया है कि इस काल में धर्म दो दिशाओं में विकसित हुआ। एक था कर्मकांडों और भक्ति का रास्ता, जिससे भौतिक कल्याण की प्राप्ति के लिए उच्च सत्ता की कृपा और आध्यात्मिक समाधान हेतु, भारतीय मत की तीव्र लालसा की संतुष्टि होती थी। दूसरा मार्ग था, तप और साधना का जिसके द्वारा कल्पनामय प्रेम तथा सत्य की प्राप्ति के आवेग की पूर्ति होती थी।

पहले भाग का पालन आर्यों द्वारा साधारण यज्ञ और प्रार्थना के रूप में किया जाता था। दूसरी ओर, अनार्य, देवताओं की पूजा और भक्ति पर बहुत जोर देते थे। इन दोनों प्रथाओं को, त्याग और बलिदान की एक व्यापक पद्धति में सम्मिलित कर दिया गया था। धार्मिक कर्मकांडों और प्रार्थनाओं का लोगों के जीवन में बड़ा महत्व हो गया था। वेदों पर टीकाएं, जिन्हें ब्रह्मन एवं अरण्यक के रूप में जाना जाता था, सार रूप में इन कर्मकांडों की पूर्ण विधियां थीं। ब्रह्मन धार्मिक यज्ञों के संबंध में विस्तारपूर्वक निर्देश देते थे और अरण्यक उनकी दार्शनिक ऊर्जा को उद्‌घाटित करते थे। अनार्यों के प्रभाव का एक-दूसरा परिणाम यह था कि, प्राचीन आर्य देवताओं ने अपना पूर्व का महत्व खो दिया था। आर्यों तथा अनार्यों की मिश्रित उत्पत्ति से, वह भक्ति का मुख्य आधार बन गयी। इनमें से सबसे प्रमुख महादेव और विष्णु थे। ऐसा प्रतीत होता है कि महादेव में, आर्यों के देव रुद्र, सिंधु घाटी के देव शिव तथा दक्षिण भारत के देव पशुपति आदि के चारित्रिक गुणों का समावेश था। विष्णु नाम आर्यों के सूर्य देवता से लिया गया था, किंतु ब्रह्मांड के सृष्टिकर्ता और पालक के रूप में, उनकी धारणा विशुद्ध रूप से भारतीय थी। छोटे देवताओं के बीच द्रविड़ों के नागराज तथा कुछ और दूसरे देव कुल में सम्मिलित कर लिए गए थे।

बाद का मार्ग, जो आर्य मस्तिष्क ने विशिष्ट भारतीय वातावरण में अपनाया था, चिंतन में सहायक, विशेष रूप से बिल्कुल नया था। यद्यपि ऋग्वेद का धर्म स्वयं प्राकृतिक शक्तियों की पूजा तक ही सीमित नहीं था, फिर भी विगत काल के अंतिम समय

में, प्रकृति के दर्पण में, एक देवता-प्रकृति के सृजनकर्ता का प्रतिबिंब देखा था। किंतु वैदिक हिंदू युग के ऋषियों ने संसार की वास्तविकता के बारे में, ऋग्वेद में प्राप्त तथ्यहीन संकेतों के आधार पर, देव और मानव की मान्यता स्थापित करते हुए, एकात्मकता के धर्मदर्शन का एक सीधा ढांचा तैयार किया। ईश्वर में एकात्मकता उपनिषदों का आधारभूत धर्म तत्व है। किंतु वे ईश्वर की कल्पना ब्रह्मांड में व्याप्त एक आत्मा के रूप में करते हैं। बहुत से देवताओं पर विश्वास और उन्हें अर्पित की जाने वाली बलि के संबंध में, उन्होंने अपनी एक व्यक्तिवादी व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। देवताओं को वे विविध शाश्वत् आत्मा के गुणों की अभिव्यक्ति यथा यज्ञ को तप और आत्मत्याग का प्रतीक मानते हैं; जिसके बिना आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है।

एकात्मकता का यह पहला विचार था, जिसे भारतीय मस्तिष्क में संसार के समक्ष 3000 वर्ष पूर्व रखा था। तब से हेगेल के समय तक, धार्मिक और दार्शनिक चिंतन ने विषय पर बारीकी से मंथन किया है किंतु बाद की अभिव्यक्तियों में से कोई भी उपनिषद् के समान सहज, साफ और तर्कसंगत नहीं है। यही कारण है कि चेतन या अचेतन में भारत के लोगों की बुद्धि और भावनाओं पर अद्वैतवादी विचारों का पूरा प्रभाव रहा, तथा सोचने के तरीके के साथ साथ क्रियाओं में उसके गहरे प्रभाव का उपयोग हुआ।

उपनिषदों में दो बुनियादी प्रश्नों के बारे में उल्लेख है जो मनुष्य के मस्तिष्क में तब उठते हैं, जबकि उसमें नैतिक और धार्मिक चेतना जागृत होती है। दृश्यमान संसार में परिवर्तन के पीछे स्थायी वास्तविकता क्या है? जिसे मैं, अपने अंदर और बाहर प्रतिदिन देखता और अनुभव करता हूं। मेरे जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है जिसे मैं अंतिम रूप से अपने आचरण का आधार बिंदु बनाऊं। पहले प्रश्न का उत्तर ऋग्वेद द्वारा सरल संक्षिप्त रूप में दिया जा चुका है कि मनुष्य में स्थायी वास्तविकता उसका स्व (आत्मा) और उसके बाहर सार्वलौकिक आत्मा (ब्रह्म) है। उपनिषद् इसके बाद आत्मा और ब्रह्म के संबंध में विवरण देते हैं, जिससे उन्हें विवेकपूर्वक स्वीकार किया जाना सहज बन सके।

"छांदोग्य उपनिषद् में, प्रजापति इंद्र के प्रश्नों के उत्तर देते हुए उन लक्षणों की ओर संकेत किया गया है, जिनके द्वारा सही अर्थों में स्व या आत्मा को पहचाना जा सके।" आत्मा जो पाप, वृद्धावस्था, मृत्यु, पीड़ा, भूख और प्यास मुक्त है, जो इच्छा करती है कि उसे क्या इच्छा करनी चाहिए और सोचती है कि उसे क्या सोचना चाहिए; उस आत्मा को हमें अवश्य जानने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रजापति पहले आत्मा का शरीर के साथ, उसके बाद स्वप्न में चेतन अवस्था से, तथा अंतिम रूप से स्वप्न रहित निद्रा में अचेतन से पहचान स्थापित कर, इंद्र की बुद्धिमत्ता का परीक्षण करते हैं। किंतु इंद्र सभी उत्तरों को निरस्त कर देते हैं। स्पष्ट है कि शरीर अवश्य ही परिवर्तित होगा तथा नष्ट होगा और ऊपर बताये आत्मा के कोई भी लक्षण उसमें नहीं हैं। स्वप्न में चेतना आवश्यक रूप से एक बदलने वाली अवस्थाओं की शृंखला है और इसलिए वास्तविक आत्मा नहीं हो सकती।

जहां तक स्वप्नरहित नींद में अचेतन अवस्था का प्रश्न है, इसमें संदेह नहीं कि उसमें आत्मा पर आरोपित निषेधात्मक गुण हैं, सकारात्मक गुण कोई भी नहीं है। इस तरह प्रजापति इंद्र को क्रमशः यह अहसास कराते हैं कि आत्मा की एक व्यक्ति की तरह कल्पना करना संभव नहीं है। आत्मा वास्तव में चेतना है। इसे अंतःकरण में अनुभव किया जा सकता है। कोई बौद्धिक धारणा संभव नहीं है।

जहां तक प्रश्न के दूसरे भाग की बात है कि ब्रह्म क्या है? तैत्तरीय उपनिषद् में एक पिता और उसके पुत्र के बीच वार्तालाप के रूप में वर्णित है। पुत्र ब्रह्म की वास्तविक प्रकृति समझाने के लिए पिता से कहता है। पिता नीचे दर्शाए ब्रह्म के लक्षण बताता है, "वह, जिसमें से सभी जीव उत्पन्न होते हैं और वह कि जिसमें मृत्यु के बाद वापिस लौट जाते हैं, वही ब्रह्म है।" तब वह पुत्र से ऐसे विषय पर विचार करने के लिए कहता है कि जिसमें इन सहज गुणों का समावेश है। दूसरे शब्दों में, पिता और उसका पुत्र एक स्थायी प्रत्यय या वस्तु की खोज में हैं जो इन सब प्रवाहों में अपरिवर्तनशील है और जो इस दृश्य के पीछे की वास्तविकता है। पुत्र पहले पदार्थों के बारे में सोचता है, किंतु यह अनुभव करता है कि वह वनस्पति और पशुओं के संबंध में संतोषपूर्ण ढंग से नहीं बता सकता। इसलिए वह जीवन के सिद्धांत ब्रह्म का प्राण के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। किंतु उससे भी उसकी संतुष्टि नहीं होती क्योंकि मनुष्य में पायी जाने वाली चेतना सिर्फ जीवन के साथ नहीं रहती। तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान की विद्या को ब्रह्म कहता है, किंतु जब उसे महसूस होता है कि विवेक प्रत्यक्ष ज्ञान से ऊंचा होता है तब वह विशुद्ध विवेक के सिद्धांत की ओर बढ़ता है। दार्शनिक के लिए यह वास्तविकता का सबसे ऊंचा सिद्धांत है किंतु वह रहस्य को संतुष्ट नहीं कर सकता क्योंकि विशुद्ध विवेक में भी कर्ता और कर्म की द्वंद्वात्मकता होती है। तैत्तरीय उपनिषद् पुत्र को सत्य की एकात्मकता की खोज के लिए और आगे ले जाता है और ब्रह्म का आनंद या स्वर्गीय सुख की व्यवस्था के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। यह वास्तविकता की धारणा की अंतिम अवस्था है। जहां मानव का मन पहुंच सकता है। आनंद को परिभाषित नहीं किया जा सकता। उस पर कोई भी गुण लागू नहीं किए जा सकते। रहस्यवादी के द्वारा इसे अंतर्बोध से महसूस किया जा सकता है किंतु दार्शनिक के द्वारा शब्दों में इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी रहस्यवादी जब दूसरों को अपनी आंतरिक अनुभूतियां बताना चाहता है, तब उसे नाम रहित को नाम, अव्यक्त को अभिव्यक्ति देनी पड़ती है। इस तरह उपनिषद् हमारी संभावना के निकट आनंद शब्द का उपयोग चरम वास्तविकता के लिए करता है। इसका अर्थ है एक जीव का अपने स्वयं के ध्यान में परम आनंद की स्थिति में डूब जाना। आत्मा और ब्रह्म के संबंध में यह धारणा ध्यान में रखते हुए, सूक्तियों में व्यक्त उपनिषद् की शिक्षा का सार तत्व समझना संभव है कि "आत्मा ब्रह्म है" या "तेरी यह कृति है" अर्थात् यह कहना चाहिए कि शाश्वत जो भौतिक संसार के पीछे की वास्तविकता है, वही है जैसी कि शाश्वत चेतना जो कि मानव मस्तिष्क के पीछे की वास्तविकता है।

उपनिषद् द्वारा उठाये गये पहले बुनियादी प्रश्न का यह उत्तर है। अब दूसरे प्रश्न का उत्तर देना सहज है। मानव जीवन का अंतिम ध्येय तथा मनुष्य के आचरण का अंतिम मानदंड आप से आप सार्वभौम आत्मा की अनुभूति की ओर ले जाने वाली आत्मसाधना है।

यहां स्व का अर्थ, आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को उलझन में फंसा अनुभव सिद्ध मन नहीं बल्कि वास्तविक मन या आत्मा है। "यह जानें आत्मा शरीर के रथ पर बैठी हुई अधिपति है; कारण चालक है, बुद्धि नकेल, इंद्रियां घोड़े तथा उद्देश्य सड़क है।" इंद्रियों के साथ मन या बुद्धि के समन्वय को, विवेकी द्वारा उपभोग करने वाला कहा जाता है। किंतु वह जिसमें समझ नहीं है और विवेक में अपरिपक्वता है, उसकी इंद्रियां नियंत्रण के बाहर होती हैं, जैसे जंगली घोड़ों द्वारा रथ का खींचा जाना; जबकि, जिसमें समझ है उसकी इंद्रियां, अच्छे प्रशिक्षित घोड़ों के समान नियंत्रित रहती हैं। जो बुद्धिमान नहीं हैं, अविवेकी और असंयमी हैं, वे आत्मा के अनंत संसार में कभी नहीं पहुंच सकते, बल्कि पुनर्जन्म के चक्र में पड़ जाते हैं। आत्मा की पूर्णता के लिए, आत्म नियंत्रण तथा आत्म संयम, दैहिक इच्छाओं को विवेक के नियंत्रण में रखते हुए आवश्यक होता है। सत्य की अनुभूति के लिए पहला कदम है आसक्ति की जगह आत्मत्याग, आत्म बलिदान का प्रयोग करना। इस तरह क्या हमारे मन का दर्पण कुंठाओं से मुक्त हो सकेगा और क्या इस लायक बन सकेगा कि वास्तविक आत्मा को प्रतिबिंबित कर सके।

उपनिषदों के अनुसार जीवन में चार अवस्थाएं होती है, प्राप्त करने वालों को जिनमें से सत्य के बाद गुजरना पड़ता है। उसे पहले ब्रह्मचारी के रूप में, उसके बाद गृहस्थ के रूप में फिर वानप्रस्थ और अंत में संन्यासी की तरह रहना पड़ता है। तीर्थ यात्री, जो जीवन यात्रा प्रारंभ करता है, एक के बाद एक सभी मूल्यों को प्राप्त करना होता है—ज्ञान, संपत्ति, प्रेम और सेवा। किंतु उसे उन्हें अंतरिम अवस्थाएं मानना चाहिए और गंतव्य पर ध्यान केंद्रित कर तथा उसकी ओर कदम बढ़ाते हुए प्रत्येक में से निकलना चाहिए। यह गंतव्य, एकात्मकता की प्राप्ति, मोक्ष है।

कर्म और संसार के सिद्धांतों का भी उपनिषदों की शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है। कर्म नैतिकता के संसार का एक आधारभूत नियम है। मनुष्य द्वारा संपन्न किया गया अच्छा या बुरा प्रत्येक कार्य उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। चेतन क्रियाएं क्रमशः अचेतन आदतें हो जाती हैं और उसके चरित्र का अंग बन जाती हैं। इसके बाद चरित्र अपने हिस्से में कार्य और बाद में उससे होने वाले परिणाम निर्धारित करता है। यह एक दूषित चक्र है जिसमें हमारा मस्तिष्क उलझा रहता है। इससे निकलने का एकमात्र रास्ता, आत्मत्याग, आत्म बलिदान तथा सर्वव्यापक मस्तिष्क से अपने साथियों की सेवा के माध्यम से, व्यक्तिगत मस्तिष्क को ऊंचा उठाना है। इस स्तर पर मनुष्य कर्म की दबाव डालने वाली शक्ति से मुक्त हो जाता है। संसार का विचार, आत्मा की अनश्वरता से संबद्ध कार्य का तर्कसंगत परिणाम है। यदि कर्म का नियम अनंत और न बचा जा सकने

योग्य है, और यदि मृत्यु के बाद आत्मा जीवित रहती है, तब कर्म का चरित्र पर और चरित्र का कर्म पर प्रभाव मृत्यु के बाद बना रहना चाहिए। जैसाकि उपनिषद् की मान्यता है, प्रक्रिया है कि मृत्यु के बाद प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा जीवन में अच्छे और बुरे आचरण के अनुसार स्वर्ग या नरक में जाती है और कुछ समय रुकने के बाद श्रेष्ठ या निकृष्ट जीव, मनुष्य या पशु के रूप में पुनर्जन्म लेती है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। किंतु जब मनुष्य चरम सत्ता की प्राप्ति के द्वारा, ससीमता द्वारा थोपी गयी सीमाओं से अपने आपको मुक्त कर लेता है, तब वह कर्म और संसार के दूषित चक्र को तोड़ता है और मोक्ष प्राप्त करता है। वैदिक हिंदू युग की सबसे बड़ी वंश परंपरा उपनिषदों में एकात्मकता का विचार है, साधारण रूप से जिसे वेदांत का दर्शन कहा जाता है। फिर भी जीवन की चार अवस्थाओं के सिद्धांत केवल हिंदुओं के धार्मिक विश्वास के महत्वपूर्ण अंग ही नहीं बन गये हैं, बल्कि सभी भारतीय काव्य और साहित्य में उनका समावेश हो गया है।

इस काल में, भारतवर्ष के धार्मिक और नैतिक चिंतन को दी गयी अंतःप्रेरणा ईसा पूर्व की छठी शताब्दी में प्रबल हो गयी (जबकि रचनात्मक विचारों की सामान्य लहर चीन से ग्रीस तक सभ्य संसार में फैल गयी) और विभिन्न वैज्ञानिक, साहित्यिक और धार्मिक आंदोलनों को जन्म दिया। इसने कुछ समय तक देश की सांस्कृतिक एकता को विचलित कर दिया किंतु भारतीय मस्तिष्क को प्रचुरता से नये विभिन्न विचारों से संपन्न कर दिया।

5. बौद्धमत, जैनमत-दर्शन की शाखाएं—महान वीर गाथाएं

(600 ई. पू.—200 ई. पू.)

समान राष्ट्रीय संस्कृति, जो बीते युग में विकसित हुई थी, सांस्कृतिक जीवन की मुख्य धारा के रूप में चलती रही। किंतु, आगे की आठ शताब्दियों में, धार्मिक और दार्शनिक विचारों की नयी धारणाओं का उदय हुआ, जिनमें से बौद्धमत, जैनमत तथा हिंदू दर्शन की छह शाखाएं यहां वर्णन करने योग्य हैं। बौद्धमत से देश के बहुत बड़े हिस्से में, लोगों के जीवन और विचारों में ऐसा महत्वपूर्ण परिवर्तन आया कि वह एक अलग, करीब करीब स्वतंत्र संस्कृति के रूप में विकसित हुई, जो मुख्य हिंदू संस्कृति की प्रतिद्वंद्वी रही। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से, यह एक विवाद का समय था, जिसमें हिंदू, जैन और बौद्ध मत भारत के सांस्कृतिक जीवन पर अपनी छाप छोड़ने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। अंततोगत्वा वह हिंदूमत था, जो संघर्ष में विजयी और बौद्धमत देश में करीब करीब समाप्त हो गया, किंतु उसने भारतीय जीवन और भारतीय मस्तिष्क पर गहरा स्थायी प्रभाव छोड़ा।

यह काल, शब्द के उपयुक्त अर्थ में, भारतीय इतिहास का प्रारंभ अंकित करता है। बीते काल के बारे में हमारा ज्ञान अधिक से अधिक अर्द्ध-ऐतिहासिक है, क्योंकि उसका अधिकतम स्रोत वैदिक साहित्य है जिससे हमें समय के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की यहां वहां की झलक के सिवा कुछ नहीं मिलता। इस अत्यल्प जानकारी पर, उस काल का पूर्ण विवरण आधारित करना कठिन है, विशेषकर तथ्यों को क्रमबद्धता से प्रस्तुत करना। किंतु जहां तक चर्चा से संबंधित समय का संबंध है, हमारे पास हिंदू, बौद्ध और जैन साहित्य के सिवा, उस जानकारी के लिए एक दूसरा साधन है, ग्रीक निवासियों के लेख, जिनका इस काल में भारत के साथ संपर्क रहा है। इन सब स्रोतों से प्राप्त सामग्री का अध्ययन अधिकृत जानकारी एकत्रित करने में काफी सहायक हो सकता है, और कुछ सीमा तक इससे सहायता मिली भी है।

इसके बाद भी, छठी शताब्दी के पहले अर्द्धभाग में, कोशल, मगध और वत्स राज्यों ने इस क्षेत्र में बहुमुखी प्रगति की (अब मध्यप्रदेश और बिहार कहलाते हैं) और अवंती

(मालवा) का नया राज्य अस्तित्व में आया। इनमें से मगध सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण राज्य बन गया था। जब तक अलेक्जेंडर महान ने भारत पर आक्रमण किया (36 ई. पू.) उसने क्रमशः पड़ोसी देशों को जीत लिया था और बड़ा साम्राज्य बन गया था। मौर्य वंश के दो राजाओं चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक के शासन काल में साम्राज्य इतना बढ़ता गया कि दक्षिण की सीमा के कुछ भाग को छोड़कर संपूर्ण भारत उसके प्रभाव में आ गया। अशोक बौद्ध धर्मावलंबी था और बौद्ध धर्म का अति उत्साही प्रचारक था। उसके संरक्षण में एक नयी आस्था विकसित हुई जैसाकि पहले कभी नहीं किया गया था। उसके बाद भी मगध, बड़े साम्राज्य की राजधानी तब तक बना रहा, जब तक कि पुष्य मित्र सुंग ने अंतिम मौर्य शासक को पराजित नहीं किया (183 ई. पू.) और सुंग वंश की स्थापना की। इसके बाद राजधानी मालवा से स्थानांतरित की गयी और साम्राज्य एक शिथिल संघीय शासन में बदल गया, जिसमें सदस्य राज्य, केंद्र को साधारण सम्मान मात्र ही देते थे और निरंतर एक दूसरे से लड़ने में संलग्न रहते थे। मौर्य साम्राज्य की श्रेणी का कोई साम्राज्य उस काल में स्थापित नहीं किया जा सका।

मौर्य साम्राज्य के अंत के समय ग्रीक निवासियों ने, जो बकट्रिया के छाटे राज्यों पर एक लंबे समय से शासन कर रहे थे, उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत पर आक्रमण किया (190 ई. पू.) और सिंधु घाटी तथा पंजाब पर अपना शासन स्थापित कर लिया और पूर्व के पड़ोसी क्षेत्रों पर आक्रमण किया। एक बार मेनन्दर के शासनकाल में, आक्रमणकारी पाटलिपुत्र तक पहुंच गये। पहले वे यवनों की तरह जाने जाते थे और उन्हें विदेशी माना जाता था, किंतु अंततोगत्वा क्षत्रिय के रूप में उनका हिंदू समाज में सम्मिलन कर लिया गया। ग्रीक निवासियों के आने के बाद सीथिनियनों ने, जिन्हें भारत में शक कहा जाता था एक राज्य की स्थापना की (90 ई. पू.) जो मथुरा तक पंजाब और मध्यप्रदेश में फैल गया था। कुछ ही समय बाद पल्लव आये, जिनके नाम से परासिया की मूल उत्पत्ति का संकेत होता था। यू. ची जाति के कुशनों के द्वारा हटा दिये जाने पर, वे उत्तर-पश्चिम भारत के शासक बन गये। कुशन शासकों में सबसे बड़े कनिष्क थे, जिनका साम्राज्य मध्य एशिया से बनारस और उसके पार तक फैला हुआ था। उनके शासन के प्रारंभ होने की तारीख के संबंध में बहुत मतभेद था। किंतु बहुत संभव है कि वे गद्दी पर 78 ईस्वी में आये, जिससे 'शक' युग के प्रारंभ का संकेत मिलता है। कनिष्क ने अपना बौद्ध धर्म अपना लिया था। वे बुद्ध की शिक्षाओं को एक नयी व्याख्या देने तथा महायान कहलाने वाले, नये पंथ की नींव रखने वाले प्रवर्तक थे। यह वह समय था, जबकि गंधार कला का बहुमुखी विकास हुआ। उड़ीसा में, कनिष्क के 100 वर्ष पूर्व, जैन धर्म के संरक्षक, महान विजेता खारवेल ने एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की, किंतु वह अधिक समय तक नहीं चल सका। करीब करीब उसी समय आंध्र निवासियों सतवाहनों ने मौर्य साम्राज्य के विनाश पर अपने स्वयं का साम्राज्य स्थापित किया, जो 400 वर्षों तक चला।

इन 800 वर्षों में भारत में अनेक धार्मिक तथा बौद्धिक आंदोलन उठे और जिससे

लोगों के मस्तिष्क में तूफान और हलचल उत्पन्न हुई और खतरा पैदा हुआ कि वैदिक हिंदू संस्कृति द्वारा डाली गयी राष्ट्रीय एकता की नींव नष्ट हो जायेगी और देश बिना किसी बात की समानता के अलग अलग सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित हो जायेगा। किंतु, वास्तव में जो हुआ वह यह था कि यह क्षुब्धता बहुत लाभदायक सिद्ध हुई और भारतीय मस्तिष्क नये तथा गहन विचारों की संपदा से समृद्ध हो गया। बाद में, चिंतन की विविध धाराओं का संश्लेषण करने का जब प्रयत्न किया गया तब विस्तृत और मजबूत नींव पर एक समान संस्कृति का भव्य ढांचा खड़ा हुआ।

वैदिक हिंदू काल के बाद के समय में, देश के धार्मिक जीवन ने संतुलन खो दिया था। एक ओर लोकप्रिय धर्म मात्र कर्मकांडों तथा ब्राह्मणों की सहायता से संपन्न किये जाने वाले यज्ञों का समूह बनकर रह गया और दूसरी ओर उपनिषदों की शिक्षा ने कर्मकांडों और बलि प्रथाओं को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया तथा आदर्शवादी दर्शन पर आधारित एक नये हिंदू धर्म की परंपरा स्थापित की। इस दार्शनिक धर्म की व्याख्या तपस्वी जीवन पद्धति के रूप में उन उच्च वर्ग के लोगों के द्वारा की जाती थी, जिसमें उसे समझने की क्षमता थी और वे सामान्य तौर से तपस्वियों की भांति रहते भी थे। जाति प्रथा इतनी कड़ी थी कि हिंदू समाज के नीचे के वर्ग के लोग, उच्च संस्कृति और उच्च वर्ग के लोगों से अलग हो गये थे। स्थिति यहां तक पहुंच गयी थी कि वेदों का पढ़ा जाना उनके लिए प्रतिबंधित था।

ऐसे समय में (563 से 482 ई. पू.) गौतम बुद्ध का आगमन हुआ, जिन्होंने आम जनता के कर्मकांडों और उच्च वर्ग की तपश्चर्या तथा स्पष्टतः जातीय पक्षपात और सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने संसार को करुणा, प्रेम, आत्मत्याग और संस्कृति का संदेश दिया। बुद्ध की शिक्षा का सार वह उपदेश है जो उन्होंने ज्ञान से आलोकित होने पर बनारस में दिया।

"ऐ भिक्षुओं ! वह जो सांसारिक बंधनों को त्यागना चाहता है उसे आवश्यकता से अधिक तथा अनुचित दोनों प्रकार के संयमों से बचना चाहिए। एक ओर उसे उन बातों का आदी नही होना चाहिए, जो केवल कामवासना से मन को आकर्षित करते हैं, विशेषकर दैहिक इच्छाओं के वशीभूत होकर। यह अज्ञान का निम्नस्तरीय, व्यर्थ और अर्थहीन जीवन है जो और किसी के लिए नहीं, बल्कि संसार के अंध भक्तों के लिए उपयुक्त है। दूसरी ओर, उसे आत्म दमन नहीं करना चाहिए। वह भी कष्टदायक, हेय और बेकार है। हे भिक्षुओं इन दोनों के बीच एक मध्य मार्ग है जिसे तथागत (बुद्ध) ने ज्ञात किया है। इस मार्ग से प्रयत्नशील होने पर आंखें खुलती हैं, मस्तिष्क में ज्ञान का उदय होता है। यह मानसिक शांति, उच्च बुद्धिमत्ता, ज्ञान के प्रकाश और निर्वाण का मार्ग है।"

बुद्ध ने मानव मस्तिष्क में गहरायी से देखा और पीड़ा की भावनाओं की प्रकृति का परीक्षण किया। उन्होंने भावना की जड़ों को कामवासनाओं, तथा इच्छाओं में तथा सार्वलौकिक उपचार आत्म संस्कृति में पाया; अर्थात् नैतिक जीवन के कड़े नियमों का

पालन करते हुए अपने विचारों और क्रियाओं को ऊंचे ध्येय के अधीन तथा आध्यात्मिक कार्यकलापों को अनुशासित करने की ओर ले जाना। जीवन का उच्च ध्येय मन की पूर्ण शांति है, जिसे बुद्ध ने निर्वाण नाम दिया। वे कहते हैं कि जो सत्य की अनुभूति के द्वारा शांति और मुक्ति प्राप्त करता है वह शब्दों, विचारों, क्रियाओं में पूर्ण विश्रांति का आनंद लेता है। बनारस के प्रसिद्ध उपदेश में बुद्ध, स्वयं को उद्‌घाटित महान सत्य जीवन के दुख के अभूतपूर्व अनुभव के बारे में आगे कहते हैं वह क्या है ? वह कैसे उत्पन्न होता है और कैसे वह समाप्त होता है और जीवन का मार्ग जिसे, उससे मुक्ति के लिए अपनाना चाहिए। उपदेश का सार तत्व यहां दिया है, "हे भिक्षुओं, यह सच्चे मार्ग का महान सत्य है जिसको अपनाने से पीड़ा से मुक्ति मिल सकती है। इस मार्ग के आठ पहलू हैं—

(1) सम्यक आस्था, (2) सम्यक महत्वाकांक्षाएं, (3) सम्यक वाणी, (4) सम्यक आचरण, (5) सम्यक जीवनवृत्ति, (6) सम्यक विचार, (7) सम्यक प्रयत्न, (8) सम्यक हर्षोन्माद।"

बुद्ध ने आत्म दमन के स्थान पर आत्म नियंत्रण, निष्क्रियता के बदले सम्यक कर्म का रास्ता बताया। उन्होंने विशेष रूप से जिस बात पर बल दिया, वह यह था कि संसार के मोह को त्यागने का अर्थ मनुष्यों के लिए प्रेम और सेवा का छोड़ना नहीं है। इसके विपरीत सार्वलौकिक प्रेम मन की शांति के लिए अति आवश्यक है। प्रेम के नियम वे नीचे दिए हुए शब्दों में निरूपित करते हैं।

"घृणा का घृणा से सामना करने पर घृणा समाप्त नहीं होती, बल्कि प्रेम के द्वारा उसका अंत किया जा सकता है। यह उसकी प्रकृति है। यदि एक व्यक्ति सुख का जीवन जीना चाहता है तो उसे उसके शत्रुओं से घृणा नहीं करनी चाहिए। विरोध को प्रेम के द्वारा, बुराइयों को अच्छाइयों से, लोभ को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए।"

गौतम बुद्ध ने अपना शेष जीवन अपनी आस्थाओं के अंतर्गत शिक्षा देने के लिए दूर दूर की यात्रा में बिताया। बुद्ध के बाद भी उनके अनुयायियों ने बौद्धमत के प्रचार में बड़ा उत्साह प्रदर्शित किया। इस पर भी, पहले के सौ वर्षों में उनके अनुयायियों की संख्या बहुत कम थी और वह भी कौशल तथा मगध तक ही सीमित रही। बौद्धमत का उदय, तब प्रारंभ हुआ जब अशोक ने उसे अपनाया तथा उसे भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी प्रचारित करने के लिए अच्छे से अच्छा प्रयत्न किया।

किंतु बौद्धमत का तुलनात्मक दृष्टि से अधिक तीव्र गति से प्रसार होने के कारण, उसका संगठन पूर्व के दिनों के समान एकता और समन्वय कायम नहीं रख सका और बौद्ध समुदाय अनेक पंथों में विभाजित हो गया। इनमें हीनयान अधिक प्राचीन और शायद अधिक रूढ़िवादी पंथ था। दूसरे पंथ सबसे अधिक अनुयायियों वाले महायान को मिलाकर, रूढ़िवादी तरीकों से काफी अलग हट गये थे। महायान जो कनिष्क के संरक्षण में, भारत और विदेशों में बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया, देवताओं के अस्तित्व पर विश्वास करता था और बुद्ध को उनमें से सबसे बड़ा मानता था तथा व्यापक समारोहों

एवं धार्मिक परंपराओं के साथ उनकी पूजा करता था। मितव्ययिता, आत्म नियंत्रण और आत्म संस्कृति के स्थान पर वह भक्ति, प्रार्थना और दान पर जोर देता था।

इस काल के अंत तक बौद्धमत ने भारत में अपनी लोकप्रियता, कुछ अर्थों में खो दी थी, प्रथम इसलिए कि विभिन्न पंथ आपस में उलझ गये और लड़ने लगे। दूसरे इसलिए कि बौद्ध संघों को बड़ी मात्रा में दान प्राप्त हुए और भिक्षुओं के पास बड़ी मात्रा में संपत्ति रही, जिससे वे शान शौकत का जीवन व्यतीत करने लगे तथा उससे उनका नैतिक पतन हुआ।

लगभग इसी समय, जिस प्रकार बुद्ध अपने मत का प्रचार कर रहे थे, महावीर (522 ई. पू.-480 ई. पू.) एक नये धर्म की शिक्षा दे रहे थे जिसे जैन धर्म के रूप में जाना गया। उनकी शिक्षा का सार यह था कि, यदि मनुष्य अपने तीव्र मनोविकारों, जैसे क्रोध, आत्माभिमान, लोभ, या अंधे प्रेम के वश में हो जाता है तो उसकी आत्मा में भौतिक तत्व व्याप्त हो जाते हैं, जो उसे बंधनों में बांध लेते हैं। उसकी मुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा को और अधिक भौतिक तत्वों से संदूषित न होने दिया जाये और जो पहले से प्रवेश कर गये हैं उन्हें पूरी तरह समाप्त कर दिया जाये।

यहां तीन सिद्धांत हैं, जिन्हें तीन रत्नों (त्रिरत्न) के रूप में जाना जाता है, सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक आचरण। सम्यक ज्ञान में सर्वव्यापी तीर्थंकरों (पवित्र मार्ग बनाने वालों) की शिक्षाओं का समावेश है और सम्यक आचरण में, समस्त सांसारिक हितों के संबंध में, दानशीलता, शुचिता तथा त्याग का दृढ़ता से पालन करना शामिल है—सम्मानजनक आचरण, जैसे चोरी नहीं करना, झूठ नहीं बोलना और अहिंसा या चोट नहीं पहुंचाना, जिसका अर्थ है जीवन के सभी आघातों से निवृत्ति का केवल निषेधात्मक व्यवहार नहीं, बल्कि समस्त जीवों के प्रति सकारात्मक दयालुता।

जैन भी हिंदुओं के इस विश्वास से सहमत हैं कि कर्मों की शृंखला कठिन तपमय अनुशासन से तोड़ी जा सकती है और आत्मदाह तथा आत्महत्या की भी वकालत करते हैं। मनुष्य जो निष्ठापूर्वक त्रिरत्न कहे जाने वाले सिद्धांतों का पालन करता है वह अर्हत (पूर्णता प्राप्त) बन जाता है और उसे सर्वोच्च ज्ञान तथा अनंत सत्ता के परम सुख की प्राप्ति होती है। जैन देवताओं पर विश्वास नहीं करते किंतु उनका एक अर्हत का विचार उसी प्रकार है जैसाकि हिंदुत्व में देवताओं का। फिर भी वे अर्हतों को भक्ति की वस्तु नहीं बल्कि पूर्णता के आदर्श मानते हैं। वे अर्हत प्रार्थनाओं को स्वीकार नहीं करते या आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वालों की सहायता नहीं करते तथा उनकी पूजा का सबसे उत्तम तरीका है उनके आदर्श और उपदेशों का पालन करना।

बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म भी कुछ समय तक प्रगति करता रहा और बाद में उसका पतन प्रारंभ हो गया। किंतु भारत में उसकी पूरी तरह समाप्ति नहीं हुई, क्योंकि उसने अनेक पहलुओं पर हिंदुत्व के साथ सामंजस्य स्थापित कर लिया और वह एक समानधर्मी पंथ के रूप में माना जाने लगा।

वैदिक हिंदू धर्म को, बौद्ध धर्म और जैन धर्म की चुनौती, हिंदू विचारकों के मस्तिष्क के लिए, उत्साहवर्द्धक तथा नया जीवन देने वाली प्रेरणा सिद्ध हुयी, जिन्होंने पिटी हुई लीक को छोड़ दिया था तथा तर्क और चिंतन के नये मार्गों पर साहसिक कदम बढ़ा दिए थे।

रूढ़िवादी हिंदू अब भी वेदों द्वारा बतायी पद्धतियों का ही अवलंबन करते थे। उनके व्यावहारिक धार्मिक जीवन में सम्मिलित था (अ) ब्राह्मणों के निर्देश पर संपन्न किए जाने वाले विभिन्न कर्मकांड, त्याग, बलिदान और (ब) जाति प्रथा के अंतर्गत जाति विशेष के लिए निर्धारित उनके कर्तव्य। धार्मिक कर्मकांड और कर्तव्य संपादित करने के लिए प्रारंभ में सूत्र या छोटे सारगर्भित वाक्यों में लिखी गयी वेदों की टीकाओं के सार तत्व मार्गदर्शन का कार्य करते थे। किंतु बाद में इन संक्षिप्त संकेतों को धर्मशास्त्र का वृहत रूप दिया गया था। वेदों की शिक्षा के प्रकाश में कर्मकांडों, प्रार्थनाओं तथा नैतिक आचरण के परिष्कृत नियमों को विस्तृत बनाया गया। राजनीति एवं अर्थशास्त्र पर एक अलग विचार संहिता, जो चंद्रगुप्त मौर्य के मंत्री चाणक्य या कौटिल्य के द्वारा लिखा जाना बताया जाता है। सरकार और राजनैतिक संस्थाओं के सिद्धांत के क्षेत्र में यह एक उपलब्धि थी। जानकारी में सबसे अच्छा धर्मशास्त्र संभवतः 200 ई. पू. से 100 ई. पू. के बीच सुंग वंश के शासनकाल में मनु द्वारा संकलित मनुस्मृति था।

इसके अतिरिक्त दार्शनिक चिंतकों ने तात्विक समस्याओं पर स्वयं मौलिक चिंतन किया तथा अपनी स्वयं की पद्धतियों की नींव डाली, जिन्हें हिंदू दर्शन की छह शाखाओं के रूप में जाना जाता है। इनमें से चार सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक, वेदों से प्रभावित नहीं थे किंतु पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा और उपनिषदों की शिक्षाओं पर आधारित थे।

उपनिषदों की तरह सांख्य दर्शन, ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित कर्मकांडों और बलि प्रथाओं को निरस्त करता है और मन की शांति तथा मोक्ष के लिए अन्य कोई दूसरा रास्ता देखता है। वह शरीर और आत्मा को वास्तविक मानता है तथा सार्वभौम सत्ता या ईश्वर पर विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार जब तक आत्मा शरीर के साथ संबद्ध है उसमें पीड़ा से आक्रांत कामवासनाएं तथा इच्छाएं रहेंगी। मृत्यु के बाद भी आत्मा मुक्त नहीं होती, बल्कि शरीर के साथ पुनर्जन्म के चक्र में आ जाती है किंतु यदि कोई शरीर एवं आत्मा की सही प्रकृति को महसूस करता है तो वह शरीर से विमुख हो जाता है और वेदनाओं से मुक्त रहता है।

दार्शनिक विचारों में, सांख्य का साधारणतया ऊंचा स्थान है और मनोविज्ञान तथा ज्ञान के सिद्धांतों में मूल्यवान योगदान दे सकता है किंतु जीवन पद्धति के रूप में वह अधिक विकसित नहीं हो सका, क्योंकि मोक्ष के लिए ऐसा मार्ग नहीं बताया, जिसे आम लोग समझ सकें। यह कमी बाद में पातंजलि योग के द्वारा पूरी की गयी।

सैद्धांतिक दृष्टि से पातंजलि योग का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है किंतु वह सांख्य

दर्शन का व्यावहारिक परिणाम है। पातंजलि योग में पाये जाने वाले मनोविज्ञान और ज्ञान के सिद्धांत सांख्य दर्शन में से लिए गये हैं। सांख्य के समान उसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य की आत्मा प्रकृति के बंधन से मुक्त हो और सत्य की अनुभूति तथा मन की परम शांति प्राप्त करे, जिसे वह योग कहता है। यह प्रार्थना और आध्यात्मिक साधना से प्राप्त किया जा सकता है। इस आध्यात्मिक प्रशिक्षण के समय एक ऐसी अवस्था आती है, जबकि योगी सर्वोच्च की शक्ति प्राप्त कर लेता है। वह पृथ्वी और आकाश, भूत और भविष्य के बारे में सब कुछ मालूम कर सकता है, वह अपने को अदृश्य कर सकता है, वह हवा में उड़ सकता है और पानी पर चल सकता है। किंतु यह वह नहीं है जिसके लिए वह प्रयत्नशील है। उसका ध्येय पूर्ण अनासक्ति तथा परिपूर्ण शांति प्राप्त करना है।

न्याय और वैशेषिक पद्धतियां भी उसी ध्येय के लिए प्रयत्न करती हैं, जिसे समस्त भारतीय दार्शनिक सिद्धांतों का एक समान ध्येय कहा जा सकता है—सत्य या वास्तविकता के ज्ञान के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति। किंतु उन दो पद्धतियों में ज्ञान का अर्थ अंतर्बोध नहीं बल्कि अवलोकन पर आधारित विज्ञान सम्मत ज्ञान, तर्क और प्रयोग है। न्याय में प्रमाण और प्रमैया का विवरण दिया है; अर्थात प्रमाण और प्रमैया वह जिसे प्रमाणित किया जाना है। पहले में ज्ञान और तर्क का सिद्धांत है और बाद वाले में भौतिक विज्ञान का। इन सब शास्त्रों में भारतीय मस्तिष्क ने लगभग 2500 वर्ष पूर्व ज्ञान की सूक्ष्मता और पारंगति प्राप्त कर ली थी, जिसका प्राचीन ग्रीस के सिवा और कहीं कोई उदाहरण नहीं है।

हिंदू दर्शन की बाकी दो शाखाएं, अर्थात् पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा, उपरोक्त चार से भिन्न हैं। इस दृष्टि से कि वे वेदों की शिक्षा से प्रेरणा ग्रहण करती हैं, पूर्व-मीमांसा विश्वास करती है कि वेद ईश्वरादिष्ट है और उनमें दिए निर्देशों का अवश्य पालन होना चाहिए। किंतु उनका संबंध वेदों के धर्म विज्ञान या नीतिशास्त्र से नहीं बल्कि केवल कर्मकांडों, धर्मानुष्ठानों, यज्ञ, भजन तथा प्रार्थनाओं से संबंधित श्लोकों से है। यह एक तरफा झुकाव संभवतः उस समय के धर्म दर्शन के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, जिसने सभी कर्मकांडों और प्रार्थनाओं का पूरी तरह बहिष्कार किया था। पूर्व-मीमांसा ने जहां वेदों की शिक्षा के एक पहलू पर जोर दिया है वहां उत्तर-मीमांसा ने दूसरे पहलू पर बल दिया है, अर्थात् एकात्मकता का सिद्धांत, जिसे उसने सुसंगत दर्शन के रूप में विकसित कर लिया था। ये दो शाखाएं मिलकर एक ऐसे धर्म-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसका उद्देश्य एक ओर बौद्ध धर्म और दूसरी ओर जैन धर्म के विरुद्ध नैतिक हिंदू धर्म का समर्थन करना था।

कितु इस युग में, हिंदू मस्तिष्क की सबसे बड़ी उपलब्धि अपने को भगवद्गीता में वर्णित एक-दूसरे दर्शन में प्रकट करती है। गीता एक अलग पुस्तक नहीं बल्कि महाभारत के महाकाव्य का एक अंग है।

अर्जुन स्वयं से पूछता है कि, ईश्वर द्वारा उत्पन्न जीवों का नाश करना तथा अपने

कुटुंबीजनों को मार गिराना क्या पाप नहीं है ? उसका क्षत्रिय धर्म एक ओर उससे यह मांग करता है कि वह अपना कर्तव्य करे और सत्य तथा न्याय की स्थापना के लिए युद्ध करे तथा दूसरी ओर प्रेम और आत्मीयता की भावना मांग करती है कि वह अपने बंधु बांधवों पर आक्रमण नहीं करे। इस तरह वह बड़े संकट में पड़ता है और समझ नहीं पाता कि वह क्या करे। विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण जो छद्म रूप में अर्जुन के सारथी बने थे, अपने आध्यात्मिक बल का प्रयोग करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं।

अर्जुन की कठिनाई यह है कि उसका नैतिक कर्तव्य प्रेरित करता है कि वह क्रियाशील हो किंतु इस क्रिया के परिणाम पूरी तरह अनैतिक प्रतीत होते हैं। श्री कृष्ण उपनिषद् के दर्शन के आधार पर इस कठिनाई का समाधान करते हैं और इसलिए उन्हें इस दर्शन के बुनियादी सिद्धांतों को समझाना पड़ता है। उनके तर्क का सार यह है कि नैतिक कार्य के लिए उपयुक्त मार्ग पाने के लिए यह आवश्यक है कि नैतिकता को धर्म पर आधारित किया जाये। प्रत्येक व्यक्तिगत कार्य का,उन मानदंडों से मूल्यांकन करना होगा, जो धर्म के द्वारा निर्धारित किए गये हैं। उपनिषद् के अनुसार धार्मिक आदर्श, सत्तात्मक एकता की उपलब्धि है। यह मात्र ज्ञान ही नहीं बल्कि ब्रह्म के ध्यान में पूरी तरह तब तक खो जाना है,जब तक कि द्वंद्व का भ्रम दूर नहीं हो जाता तथा प्राप्तकर्ता एवं प्राप्ति एक नहीं हो जाते। इस दशा में एक व्यक्ति के कार्य की संपूर्ण प्रकृति बदल जाती है। एक व्यक्ति बिना अपनी व्यक्तिगत इच्छा या स्वयं के कार्यों के परिणामों पर विचार किए, अपने स्वयं तथा समाज की रक्षा के लिए आवश्यक कार्य केवल कर्तव्य निर्वाह के लिए संपादित करता है। अर्जुन को श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं कि वह आध्यात्मिक निर्लिप्तता की स्थिति में, बिना इच्छाओं के प्रवाह में बहते हुए और अपनी क्रियाओं की जरा भी चिंता किए बिना, क्षत्रिय जाति के द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन करे। यथार्थ में, उसे इन भावनाओं से मुक्त होना चाहिए कि वह कुछ कर रहा है और यह मानना चाहिए कि वह सब जो हो रहा है, वास्तविक कर्ता, ब्रह्मा का कार्य है। उसे महसूस करना चाहिए कि एक व्यक्ति के रूप में उनके अस्तित्व के समान उसका स्वयं का कार्य मात्र दिखावा है, केवल नाम मात्र के लिए है।

भगवद्गीता केवल उपनिषद् पर टीका नहीं, बल्कि आंशिक रूप से उसकी पूर्ति करती है। उपनिषदों में धर्म के सैद्धांतिक पहलुओं पर बल दिया गया है, अर्थात् ब्रह्म की प्रकृति और आत्मा तथा उसकी पहचान पर। गीता में व्यावहारिक पहलू, अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति एवं मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग के संबंध में बताया गया है। गीता ने मोक्ष प्राप्ति के तीन तरीकों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। चिंतन तथा तप के द्वारा ज्ञान का मार्ग, आस्था तथा भक्ति का मार्ग और कर्म का मार्ग। इन सब तीनों का उपनिषदों में उल्लेख है किंतु विशुद्ध ज्ञान पर इतना जोर दिया गया है कि धर्म के प्रति निष्ठा का पहलू दृष्टि से ओझल हो गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सत्य की अनुभूति कुछ विशुद्ध बौद्धिक है जिसमें प्रेम और भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। इसी तरह कर्म को ज्ञान

की तुलना में नीचा स्थान दिया गया है। स्पष्ट है कि उपनिषद् किसी भी प्रकार के कर्म को सत्य की खोज करने वाले की प्रगति को रोकने वाला एक प्रकार का बंधन मानते हैं, जिसे ज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने के पूर्व तोड़ना चाहिए। गीता ने इन भ्रमों को दूर किया और बिल्कुल स्पष्ट किया है कि उपनिषदों में वर्णित आत्मा और ब्रह्म की अनुभूति केवल अमूर्त विचार मात्र नहीं है, बल्कि प्रेम का भक्ति के साथ, अन्वेषक का अन्वेषण के साथ आध्यात्मिक सम्मिलन है और पूरी तरह कर्तव्य की भावना से किया गया कर्म, अवरोध नहीं, बल्कि ध्येय की प्राप्ति का प्रभावकारी माध्यम है।

हिंदू विचारक हिंदुत्व में सुधार लाने में प्रयत्नशील मालूम पड़े, जिससे कि बौद्ध धर्म के विरुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने में उसे लगाया जा सके और राष्ट्रीय धर्म का स्थान पुनः प्राप्त हो सके। यह आंदोलन केवल धर्म और दर्शन तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि बौद्धिक सीमा के नीचे अपने को महाकाव्य या वीर काव्य में व्यक्त भावनाओं की गहरायी में प्रवेश कर गया। महाभारत और रामायण के विभिन्न लोक गीतों में कही गयी कहानियां अनेक पीढ़ियों के लोगों में प्रवाहित रहीं। ईसा पूर्व की द्वितीय शताब्दी के इस काल के करीब करीब मध्य में, उनका संकलन पुनर्सपादित हुआ, जिससे वैदिक हिंदू युग के बहादुरों के स्मरणीय कार्य और उनके मन में नये बेहतर जीवन की इच्छा की हलचल पैदा कर सकें। यथार्थ में कहा जाये तो रामायण धार्मिक काव्य नहीं है बल्कि उसे चिरंतन काव्य का पहला उदाहरण माना जा सकता है। किंतु उसमें राम, लक्ष्मण और सीता के श्रेष्ठ चरित्रों का ऐसे आकर्षक तथा प्रभावशाली ढंग से वर्णन है कि पाठक प्रेम और भक्ति की सबसे गहरी संवेदनशीलता से प्रेरित होते हैं और उनके लिए रामायण हिंदू धर्म के पवित्र ग्रंथों से कोई कम पवित्र प्रतीत नहीं होती। दूसरी ओर महाभारत, प्राचीन परंपराओं के अनुसार यजुर्वेद के आगे का ही अंश है और पांचवां वेद तथा धर्मशास्त्र कहलाता है। फिर भी, कौरव और पांडवों की कहानी को धार्मिक महत्व नहीं दिया जाता, जिनमें दार्शनिक समस्याओं का उल्लेख है, विशेषकर श्रीकृष्ण के प्रसिद्ध वचन जिनका संदर्भ हमने ऊपर दिया है।

धार्मिक विचारों की पृष्ठभूमि में हमें एक युग की संस्कृति के विविध पहलुओं को देखना होगा, जिसमें धर्म केवल जीवन का अंग नहीं रहा, बल्कि उसे संपूर्ण रूप से प्रभावित किए रहा। सामाजिक और राजनैतिक संगठन, विज्ञान, ललित कलाएं, जीवन पद्धतियां, भोजन और वस्त्रादि प्रत्येक वस्तु धर्म के सांचे में ढली थी।

यद्यपि राज्य निरंकुश था और प्रशासन के मामलों में राजा की इच्छा कानून होती थी, फिर भी न्यायिक मामलों में उसे धर्मशास्त्र का पालन करना पड़ता था। सामान्य रूप से ब्राह्मण जो अपने ज्ञान और पवित्रता के लिए विख्यात थे, राजा के सलाहकार नियुक्त किए जाते थे और राज्य के मामलों में उनकी प्रमुख रूप से बात मानी जाती थी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि राज्य कुछ सीमा तक धर्म के अधीन रहता था। किंतु बौद्ध राज्यों में कम-से-कम अशोक के समय में, स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत थी। राजा बौद्ध

मतावलंबियों का धर्म गुरु माना जाता था। हिंदू पूजा और आस्था के लिए पूर्ण स्वतंत्र थे। किंतु जहां तक नैतिक जीवन का संबंध है, राज्य का उसके सभी नागरिकों, हिंदुओं तथा बौद्धों पर कड़ा बंधन लागू रहता था और इस कार्य के लिए विशेष अधिकारी जिन्हें 'धम्म महामात्य' कहा जाता था, नियुक्त किए जाते थे। इसके अतिरिक्त राज्य का सामान्य तरीका वैसा ही था जैसा हिंदू शासकों के अधीन था और इसकी सबसे प्रमुख विशिष्टता यह थी कि राजा नौकरशाही तथा कार्यकारी अधिकारियों के माध्यम से राज्य करता था, जैसाकि हम आधुनिक राज्य में पाते हैं, उससे कम व्यापक नहीं था। बौद्धमत से सामाजिक परंपराओं में जो परिवर्तन आया, वह यह था कि यद्यपि जाति भेद समाप्त नहीं हुआ किंतु उसका महत्व कम हो गया।

बौद्ध संघ की सभी जातियों के लिए इसके द्वार खोल दिए गये और इस तरह वर्णाश्रम का आधार कमजोर हो गया। साधारण रूप से सामाजिक जीवन में यद्यपि बौद्ध और जैनों में भी जाति प्रथा की वंश परंपरा कायम थी किंतु श्रेणी के क्रम कुछ सीमा तक बदल गये। उच्च वर्ग के लोग जो क्षत्रियों में से तथा व्यापारी जो वैश्य जाति में से होते, ब्राह्मणों से श्रेष्ठ माने जाने लगे थे।

बौद्ध आंदोलन का एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि पशुओं की बलि, जिसे अशोक ने अपने शासनकाल में बंद कर दिया था, हिंदू समाज के बड़े समूह द्वारा हमेशा के लिए त्याग दिया गया। आबादी का केवल एक हिस्सा, जैसे काली की पूजा करने वाले इसे मानते रहे।

पशु बलि तथा मांस भक्षण को समाप्त करने और अहिंसा के सिद्धांत का प्रचार करने में जैन धर्म की भूमिका बौद्ध धर्म से कम नहीं रही।

कुछ शास्त्र जो इस समय अपनाये गये उनकी जड़ें धर्म में थीं। दर्शन जैसाकि हमने देखा अभिन्न रूप से संबंधित था। वर्ण विन्यास, व्याकरण और छंद शास्त्र वेदों के अध्ययन से विकसित हुए और वैदिक विद्या के अंग माने जाते थे। प्राचीन सिंध आर्य भाषा जिसे सामान्य तौर से वैदिक माना जाता था काफी अधिक परिवर्तित हुई और अनेक शाखाओं में उसका विभाजन हुआ। उनमें एक जो उत्तर भारत के मध्य क्षेत्र में प्रचलित थी, तर्क पूर्ण ढंग से विकसित हुई और उसे संस्कृत कहा जाने लगा। हिंदू धर्म और दर्शन की भाषा के रूप में उसे संपूर्ण भारत में उच्च वर्ग के लोगों के द्वारा पढ़ा जाता था। ज्योतिष विद्या जो धार्मिक कर्मकांडों तथा यज्ञों का समय निर्धारित करने के लिए, सितारों के चलन के अध्ययन से प्रारंभ हुई, ब्राह्मणों की विशेष धरोहर थी।

इस युग में बौद्ध मत ने शिक्षा पर बहुत अधिक प्रभाव डाला। बौद्धों के पूर्व शास्त्र और धर्म की भाषा संस्कृत थी। सभी पवित्र पुस्तकें संस्कृत में थीं और जिनका अध्ययन क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों के सिवा और कोई नहीं कर सकता था। इसलिए शिक्षा इन्हीं उच्च जातियों तक ही सीमित थी। बुद्ध ने अपने संदेश के प्रचार के लिए, संस्कृत के स्थान पर आम संभाषण की भाषा का उपयोग किया। उन दिनों में बुद्ध के गृह स्थान में बोली जाने

वाली भाषा, सिंध आर्य की पूर्वी बोली थी। यह वही बोली थी, जिसमें बुद्ध उपदेश देते थे। अशोक के समय तक यह बौद्धों की धार्मिक भाषा बन गयी थी और बौद्ध धर्म के साथ संपूर्ण भारत में फैल गयी थी। इसीलिए अशोक ने, देश के विभिन्न भागों में, स्तंभों पर अपनी राजाज्ञा अंकित कराने में इसका उपयोग किया। जहां तक ज्ञान का संबंध है, बौद्धों ने सामान्यतया अपने को धार्मिक जन श्रुतियों के अध्ययन तक ही सीमित रखा। पूरे समय तक अध्ययन का क्षेत्र ब्राह्मणों के प्रभाव में ही बना रहा। इस तरह, दर्शन के विभिन्न मत धार्मिक नियम, राजनैतिक, अर्थशास्त्र और पौराणिक महाकाव्य की श्रेष्ठ कविताएं, जिनका हमने ऊपर संदर्भ दिया, सब ब्राह्मण विचारकों की कृतियां थीं।

दूसरी ओर बौद्धों के संरक्षण में कला समृद्धशाली बनी। बौद्धों के पूर्व के काल में ललित कला प्राथमिक अवस्था में थी। शिल्पकला ने भी थोड़ी ही प्रगति की थी। एक से चार मंजिल के मकान नदी के तट पर या समुद्र के किनारे बसे शहरों में लकड़ी के द्वारा बनाये गये और ऊंचे स्थान पर ईंट के द्वारा जो बनाये गये उनमें बड़ी संख्या में खिड़कियों का प्रावधान किया गया। सीलिंग के लिए दफ्ती और ईंटों का उपयोग होता था। नियम के अनुसार प्रत्येक घर में चारों ओर कमरों से घिरा तथा सामने बरामदे के साथ एक वर्गाकार आंगन होता था। शहर सामान्य रूप से वर्गाकार या आयताकार नियोजित किए जाते थे। मुख्य सड़क पूर्व से पश्चिम को जाती थी और बाजू की सड़कें उत्तर से दक्षिण। विभिन्न व्यावसायिक समुदायों के लिए एक अलग मकान निर्धारित कर दिया जाता था। मंदिर शहर के उत्तरी भाग में स्थापित होते थे और उनमें से प्रत्येक में बांस की जाली की कारीगरी का कमरा होता था, जो एक परिवर्तन का कार्य करता था। यहां तक कि शहरों में जहां मकान बनाने के लिए ईंटों का उपयोग होता था, मंदिर साधारणतया बांस के बनाये जाते थे। सबसे पुराना मंदिर जो अभी तक खोजा जा सका, चित्तौड़ के पास का विष्णु मंदिर है। उसी काल का एक दूसरा बेस नगर में पाया गया है।

भवनों के निर्माण में पत्थर का उपयोग अशोक के समय से कुछ ही पूर्व प्रारंभ हो गया था, किंतु यह वह था जिसने बड़ी संख्या में पत्थर के ढांचे निर्मित किये। इनमें से शाही महल, समय की बरबादी के साथ नष्ट हो गये। किंतु कुछ स्तूप, स्तंभ और विहार अब भी विद्यमान हैं। स्तूपों के नमूने सांची और बरहुत में देखे जा सकते हैं। उनकी बाड़ियों और द्वारों पर की गयी खुदाई धार्मिक नहीं बल्कि धर्म निरपेक्ष विषयों पर है और उस काल के जीवन के उज्जवल चित्र प्रस्तुत करती है। पक्के पत्थर से तराशे गये अशोक स्तंभ 40 से 60 फुट ऊंचे हैं, जिन पर दर्पण के समान चमकती पालिश की सतह है। ऊपरी हिस्से पर, एक वर्गाकार आधार पर घंटी के आकार में कुंठदंती और कुछ विशिष्ट प्रतीक के रूप में आकृतियां साधारणतया सिंह और पवित्र चक्र है, जो भारतीय गणतंत्र के अधिकृत प्रतीक चिन्ह के रूप में मान्य कर लिए गये हैं।

बौद्ध कला के पुष्प, अजंता की गुफाओं और उसके भित्ती चित्रों में देखे जाते हैं। ईसा पूर्व की द्वितीय शताब्दी से ईसा के बाद की तृतीय शताब्दी तक अंकित यह चित्रकला

बौद्ध कला की विशिष्टताएं सबसे अच्छे रूप में प्रस्तुत करती है। पहली बात जिस पर कला-कौशल और यांत्रिकीय दृष्टि से ध्यान दिया जाना चाहिए, अजंता की चित्रकलाएं ऐसे ऊंचे स्तर पर पहुंच गयी थीं कि उन्हें कई शताब्दियों में हुए विकास का परिणाम मानना चाहिए। इसे केवल अजंता कला का दक्षिण की द्रविड़ संस्कृति के माध्यम से सिंधु सभ्यता के साथ संबंध बताते हुए समझाया जा सकता है क्योंकि वैदिक संस्कृति, जो उत्तर भारत में बौद्ध संस्कृति का अग्रदूत थी, की नाम मात्र को भी कोई चित्रकला थी, ऐसा ज्ञात नहीं होता।

इस परिकल्पना से यह तथ्य मिलता है कि इन भीत्ति चित्रों में नागर के समान, अनार्य आकृतियों को उतना ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है, जितना आर्य आकृतियों को। इन चित्रकलाओं की एक दूसरी विशिष्टता जैसी समस्त बौद्धकला में थी, सादगी और सीमाएं हैं, अर्थात् व्यापक सजावट और अलंकरण के साथ ही साथ भावनात्मक अतिरेक से बचा गया है, जिसे सीधे बौद्ध शिक्षा का प्रभाव माना जा सकता है। इसके साथ ही साथ मोहक बोधिसत्व पदाम्वनी दर्शाते हैं कि बौद्ध कला में भौतिक सौंदर्य और लावण्य से आनंद लेने की क्षमता के साथ एक गहरी आध्यात्मिकता तथा अंतरंगता निहित है।

6. द्वितीय सम्मिलन : पौराणिक हिंदू संस्कृति

(200 ईस्वी—700 ईस्वी)

बीते हुए काल में, रूढ़िवादी हिंदू धर्म के प्रतिद्वंद्वी के रूप में, दो धार्मिक आंदोलनों का उदय हुआ और कुछ समय के लिये वे देश के कुछ भागों में बहुत लोकप्रिय हो गये। किंतु ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी तक उनका प्रभाव घटने लगा। दूसरी ओर हिंदू विचारकों ने सत्य की खोज में चिंतन के नये उपादानों पर साहसिक कार्य किये और अपने देशवासियों की आध्यात्मिक मनःस्थिति का सावधानी से अध्ययन किया, इस दृष्टि से कि धार्मिक आस्थाओं और व्यवहार में इस तरह से सुधार ला सकें कि जिससे सभी वर्ग के लोगों को आकर्षित किया जा सके। परिणाम यह हुआ कि हिंदुत्व ने नये जीवन की शुरुआत और नयी शक्ति के द्वारा, लोगों पर अपना प्रभाव पुनः स्थापित कर लिया तथा एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति की नींव का काम किया। नयी संस्कृति जो लगभग 200 ईसा पूर्व में विकसित होना प्रारंभ हुयी थी चौथी शताब्दी में, गुप्त साम्राज्य के अधीन अपने सबसे ऊंचे स्तर पर पहुंच गयी।

यद्यपि उत्तर और दक्षिण भारत में मौर्य साम्राज्य के बाद बहुत से साम्राज्य उभरे, किंतु उनमें कोई इतना बड़ा नहीं था कि उसे राष्ट्रीय साम्राज्य का नाम दिया जा सकता। अंततोगत्वा ईसा के बाद चौथी शताब्दी के प्रारंभ में एक दूसरा चंद्रगुप्त (320 ईस्वी से 335 ईस्वी) देश में उठा जिसने मौर्य साम्राज्य की नींव रखने वाले को जन्म दिया था और पाटलिपुत्र को एक सामान्य बड़े साम्राज्य की राजधानी बनाया, जिसने उसके पुत्र समुद्रगुप्त और पौत्र चंद्रगुप्त द्वितीय के अधीन दक्षिण के एक छोटे भाग को छोड़कर, संपूर्ण भारत को अपने प्रभाव में बांधे रखा। गुप्त राजाओं के अधीन देश में राजनैतिक एकता, सांस्कृतिक एकता का वातावरण बनाने तथा नयी हिंदू संस्कृति को राष्ट्रीय संस्कृति की स्थिति पर ऊंचा उठाने में सहायक हुयी। बाद के पृष्ठों में हम इस नयी संस्कृति का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

वैदिक हिंदू धर्म ने पूर्व में ही प्राचीन भारतवासियों के सबसे लोकप्रिय देवताओं शिव और विष्णु को वैदिक देवकुल में सम्मिलित कर लिया था, शिव को आर्यों के देव रुद्र के साथ तथा विष्णु को सूर्य के साथ समानता में। किंतु इन देवताओं पर आस्था वैदिक हिंदू धर्म में एक गौण बात थी, और उसका पूरी तरह समावेश नहीं हुआ था।

हिंदुत्व के नये रूप ने प्राचीन आस्था के महत्व को महसूस किया और एकाधिकारपूर्वक समन्वय स्थापित करने के बाद,उसे उसकी धार्मिक आस्था का अंग बना दिया।

प्राचीन भारतवासियों की धार्मिक चेतना अब भी ऐसी अवस्था में थी,जिसमें वे प्राकृतिक शक्तियों को जीवंत देवी देवता मानते थे,जिनमें एक अभिप्राय और शक्ति निहित थी। वे उन्हें मानव रूप में देखते थे और उनकी मूर्तियां बनाकर पूजा करते थे। उनकी शक्तिशाली अनियंत्रित कल्पनाओं ने ब्रह्मांड की उत्पत्ति और वृद्धि तथा प्राकृतिक देवताओं के बारे में रहस्य के रूप में विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों के बीच संबंधों पर विचार किया। देश के कुछ भागों में सबसे अधिक श्रद्धा सृजन के देवता शिव और उनकी अर्द्धांगिनी पार्वती को दी जाती थी,जो वही थीं,जिनकी संभवतः हजारों वर्ष पूर्व सिंधु घाटी में देवी के रूप में पूजा की जाती थी। दूसरे भागों में विष्णु जीविका के देव और उनकी अर्द्धांगिनी लक्ष्मी विशेष सम्मान की वस्तु थीं। चूंकि यौन संबंधों से उत्पत्ति, जीवन तथा मृत्यु का आधार है,इसलिए ऐसा विश्वास किया जाता था कि शिव का दोहरा व्यक्तित्व था। उन्हें एक ओर ब्रह्मांड के नियंत्रक के रूप में और दूसरी ओर विनाशक के रूप में मान्यता दी जाती थी। इसी प्रकार उनकी अर्द्धांगिनी को,उमा और पार्वती के नाम से लावण्यमयी मां तथा काली के नाम से रुद्र रूप शक्ति,जिन्हें रक्त की बलि के सिवा और कुछ संतुष्ट नहीं कर सकता था,मान्यता प्राप्त होती थी। किंतु विष्णु का एक ही पक्ष था। वे संसार के पालक, मनुष्यों के प्रति दयालु तथा कल्याण करने वाले थे। उनकी धर्मपत्नी लक्ष्मी धन और समृद्धि की देवी थीं।

प्रतीक और अवतार के सिद्धांत की सहायता से,देवताओं की विविधता के विचार का एकता की वैदिक अवधारणा के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया। धार्मिक सिद्धांत ने आगे बताया हुआ स्वरूप ग्रहण किया। ब्रह्मांड की जीवंत आत्मा एक ही है और ब्रह्म कहलाने वाली केवल एक ही सत्ता है। हम उसकी तीन रूपों में कल्पना कर सकते हैं—ब्रह्मा, सृजनकर्ता, विष्णु पालक और शिव विनाशक के रूप में। ये सब तीन तथा अन्य देवता और देवियां और उनके प्रतिनिधि एक देवता के विभिन्न रूपों तथा गुणों के प्रतीक हैं और उनकी पूजा करने का अर्थ है वास्तव में ब्रह्म की पूजा करना। विष्णु संसार में बार बार मनुष्यों की सहायता तथा मोक्ष के लिए आते हैं।

देवता के स्थान पर मनुष्य का रूप उनका अवतार माना जाता है। विष्णु के नौ अवतार पहले ही आ चुके हैं। उनमें से सबसे महत्वपूर्ण कृष्ण,राम और बुद्ध हैं। देवताओं पर आस्था को नया रूप इस प्रकार से देने के बाद, कि सभी पंथ और सभी वर्गों का समावेश हो सके,संसार की रचना,देवताओं के जीवन तथा राजाओं के शासन के संबंध में,लोगों में प्रचलित कहानियों को एकत्रित और संग्रहीत किया गया—पुराणों के नाम से। अधिकांश पुराण विष्णु के नाम से हैं और कुछ ब्रह्म या शिव के नाम से। ऐसी जटिलताएं प्रारंभिक समय से हिंदुओं को ज्ञात थीं। इतिहास पुराण का अथर्ववेद में समावेश है और कुछ के द्वारा वह वैदिक साहित्य का एक अंग माना जाता है। किंतु

अधिकांश पुराण अपने वर्तमान स्वरूप में पांचवीं शताब्दी और उसके बाद की सदियों में संकलित किये गये थे, क्योंकि हिंदू धर्म ने उन्हें पवित्र ग्रंथों के स्तर पर ऊंचा उठाया। वेदों की अपेक्षा पुराण आम लोगों में अधिक लोकप्रिय थे। इस तरह प्राचीन हिंदुत्व से अंतर स्थापित करने के लिए, नये हिंदुत्व को पौराणिक हिंदू धर्म कहा जा सकता है और उस पर आधारित संस्कृति को पौराणिक संस्कृति।

जैसाकि हमने पूर्व में बताया, पौराणिक हिंदू धर्म का दृष्टिकोण काफी व्यापक था, जिससे भारत में विद्यमान, जड़वाद तथा मूर्ति पूजा से लेकर एकात्मवाद तक, सभी प्रकार की आस्थाओं का समावेश हो सके। किंतु वे धार्मिक सिद्धांत, जिनका सामाजिक और नैतिक जीवन से सीधा संबंध था अर्थात् कर्म, पुनर्जन्म, जीवन की चार अवस्थाएं तथा वर्णाश्रम ज्यों के त्यों वैदिक हिंदू धर्म से लिये गये थे।

एक दूसरी जो दोनों में समान बात थी, वह वेदों और अरण्यकों की व्याख्या एवं धर्मशास्त्रों में निर्धारित नियम तथा विस्तृत कर्मकांडों संबंधी निर्देश थे, जिनका एक हिंदू को जन्म से मृत्यु तक पालन करना पड़ता था। यह कराना ब्राह्मणों का विशेषाधिकार था। इस तरह ब्राह्मणों का लोगों के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन पर पूरा नियंत्रण था।

इसलिए पौराणिक हिंदू धर्म की नींव डालने वालों ने, जिनको उनके समय की स्थितियों का ज्ञान था और भारतीय मस्तिष्क के संबंध में अंतर्दृष्टि थी, हिंदू धर्म को ऐसा लचीला बनाया, जिससे उस युग की सभी धार्मिक प्रवृतियों का उसमें समावेश हो सके। इसी प्रकार, इस आधार पर खड़ी की गयी संस्कृति व्यापक और विस्तृत थी। किंतु इस सबके बावजूद जाति भेद और कड़े बन गये, क्योंकि पौराणिक धर्म और संस्कृति के इस शिथिल ढांचे में, वास्तविक बंधन पैदा करने वाली शक्ति ब्राह्मणों द्वारा दी जाती थी और उनकी ताकत और प्रभाव जाति प्रथा पर निर्भर करता था। धर्म और सामाजिक जीवन पर पूरा प्रभाव होते हुए भी ब्राह्मणों का प्रशासन या सरकारी तंत्र में बहुत कम हाथ रहता था। पुरोहित के रूप में उनका मुख्य कर्तव्य था धार्मिक अनुष्ठानों के आयोजनों की अध्यक्षता करना। इस तरह हिंदू राज्य यद्यपि अब भी धार्मिक राज्य इस अर्थ में था कि उसका यह कर्तव्य था कि वह हिंदू धर्म को संरक्षण प्रदान करे और धार्मिक नियम लागू करे, फिर भी पुरोहित जाति के हस्तक्षेप से करीब करीब मुक्त था और उसके धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी थी। यद्यपि धर्मशास्त्र को नागरिक और सामाजिक कानूनों का दर्जा प्राप्त था, फिर भी मनु के समय से मानवीय कारण तथा सामाजिक रीति रिवाज भी कानून के आधार माने जाते थे। इसलिए राज्य को धर्मनिरपेक्षता के कानून बनाने का अधिकार था और वह इस सिद्धांत का पालन करता था कि समान सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के साथ, जो हिंदू धर्म संपूर्ण देश में प्रवर्तित करना चाहता था, विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों तथा सामाजिक प्रथाओं को मान्यता दी जानी चाहिए और वही वैधानिक दर्जा दिया जाना चाहिए जैसाकि हिंदू संस्कृति का प्रभावी तत्व है।

विभिन्न जातियों के बीच अंतर्जातीय विवाह ने अनेक प्रकार की मिश्रित

उपजातियां उत्पन्न कर दी थीं। यहां तक कि चार मूल जातियां भी अब छोटे समूहों में विभाजित की जाती थीं। विशेषकर वैश्य जाति व्यवसाय के आधार पर बहुत सी उपजातियों में बिखर गयी थी, जैसे वैद्य, कायस्थ आदि।

महिलाओं का समाज में ऊंचा स्थान था, किंतु उन्हें उनके लिए निर्धारित कर्तव्य क्षेत्र के बाहर जाने की अनुमति नहीं थी।

विभिन्न संस्कृतियों का संक्षिप्त सर्वेक्षण पौराणिक हिंदू धर्म की स्थितियां दर्शाता है। किंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि देश के कुछ भागों, विशेषकर दक्षिण भारत में, बड़े समूह थे जो पौराणिक हिंदू धर्म के सिद्धांत अपनाने के बाद भी अपनी अपनी संस्कृतियों से संबद्ध थे। प्रत्येक अलग भाषा, कुछ सीमा तक अलग रहन-सहन के तरीके, अलग रीति-रिवाज, व्यवहार और अलग नियमों के साथ थे। इस तरह ऐसी स्थिति थी कि दक्षिण में कुछ द्रविड़ समुदाय के लोग मातृ सत्तात्मक पद्धति से रहते थे, जो हिंदू धर्म की पितृ सत्तात्मक पद्धति से मूल रूप में भिन्न थी।

यद्यपि पौराणिक युग में, धर्म समाज पर प्रभावी बना रहा, किंतु जीवन के विभिन्न पहलुओं में भिन्नता लाने की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट हो गयी। विज्ञान, साहित्य और ललित कलाएं अब धार्मिक विषयों के संकुचित चक्र से बाहर आने और जीवन के सभी अंगों पर कार्य करने के लिए स्वतंत्र हो गयीं। गुप्त राजाओं के राजतंत्र के संरक्षण को धन्यवाद कि लौकिक साहित्य ने उल्लेखनीय प्रगति की और संसार की किसी दूसरी भाषा के ललित साहित्य से अनुकूल तुलना की जा सकी।

विज्ञान और साहित्य की प्रगति को पुस्तकों के बढ़ते हुए उपयोग से गतिशील बनाया गया था। शताब्दियों तक भारत को लिखने की कला खरोष्टी और ब्राह्मी लिपियों में ज्ञात थी। उत्तर भारत में कुछ वृक्षों की छाल और दक्षिण भारत में विभिन्न प्रकार के ताड़ के पत्ते लिखने के लिये उपयोग में लाये जाते थे।

संस्कृति ने धर्म, शास्त्र और साहित्य की भाषा के रूप में अपना पुनः स्थान बना लिया था। उच्च अध्ययन के लिये नालंदा तथा अन्य स्थानों में विश्वविद्यालय स्थापित थे, जिनमें छात्रों को राज्य के व्यय पर लौकिक तथा धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। लौकिक शास्त्र में चिकित्सा, गणित और ज्योतिष शास्त्र इस काल में सबसे अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे। चिकित्सा के साथ विद्यार्थी शल्य चिकित्सा भी सीखते थे। शल्य चिकित्सा में घावों को साफ करने, सुखाने तथा मलहम लगाने के लिए, उन्हें नश्तर का उपयोग करना सिखाया जाता था। युग के गणितज्ञ पैथा गोरस के सिद्धांतों से परिचित थे। 'π' का मूल्य निकाल लेते थे और समीकरणों के प्रश्न हल कर लेते थे। ज्योतिषियों ने खोज कर ली थी कि तारे और नक्षत्र ब्रह्मांड से संबंधित थे और प्रकाश प्रतिबिंबित करते थे। वे जानते थे कि पृथ्वी अपनी धुरी पर दिन में एक बार घूमती है और उन्होंने उसकी त्रिज्या की गणना कर ली थी।

इस काल के महान् शिक्षा शास्त्रियों का न केवल भारत के बल्कि विश्व के विज्ञान

के इतिहास में ऊंचा स्थान था। आर्य भट्ट, वाराह मिहिर और ब्रह्म गुप्त के गणित और ज्योतिष में, चरक और शुश्रुत के चिकित्सा विज्ञान में शोधों ने, दूसरे देशों के वैज्ञानिकों का शताब्दियों तक मार्गदर्शन किया तथा अरब और अन्य इस्लामी देशों के विज्ञान संबंधी विचारों पर सीधा तथा योरोप पर अप्रत्यक्ष प्रभाव डाला।

साहित्य की जिस शाखा ने इस काल में सबसे उल्लेखनीय प्रगति की वह नाटक था। भाष्य संभवतः नाटककार थे, जिन्होंने राजदरबारी या सांसारिक नाटकों के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। वे कालिदास के पूर्ववर्ती थे, जो ईसा पूर्व की चौथी या पांचवीं शताब्दी में रहे। कालिदास को सर्वमत से भारतीय नाटककारों और कवियों के राजा के रूप में मान्यता प्राप्त है। उनके जन्म स्थान के संबंध में मतभेद हैं, किंतु सभी इस बात से सहमत हैं कि उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग गुप्त राजाओं के राज दरबार में बिताया। सबसे अधिक ख्याति प्राप्त और सबसे अधिक सम्मानित उनके नाट्य को मिश्रित उत्कृष्ट रोमांचपूर्ण भावनाओं का दर्पण माना जाता है। इस काल को नाटकों और कविताओं ने रामायण और महाभारत की विशुद्ध शास्त्रीय काव्य की यथार्थवादी सादगी बनाये रखा किंतु इसके साथ ही, युग की प्रखर कल्पना तथा वासनामय विषयासक्ति ने उसे गौतमय भावुकता प्रदान की। सातवीं शताब्दी के अंत में एक दूसरे महान नाटककार भवभूति प्रकट हुए, जिन्हें साहित्य के आलोचक कालिदास की श्रेणी में ही रखते हैं। उनके तीन नाटक, मालनी माधव, महावीर चरित, उत्तर रामचरित, संस्कृत साहित्य के स्वर्ण युग की स्मरणीय कृतियां मानी जाती हैं। महाकाव्य की कविताओं में, नाटक की तरह भारतीय मस्तिष्क, इस काल में पूर्णता के चरम बिंदु पर पहुंच गया। इसके लिए श्रेय कालिदास को जाता है। उनके दो महाकाव्य रघुवंश और कुमार संभव तथा छोटे संगीतमय काव्य मेघदूत की गणना विश्व के श्रेष्ठ साहित्य में की जाती है। भारवि करीब करीब कालिदास के समकालीन थे। उनका केवल एक महाकाव्य किरवार जूनियां हमारे समक्ष आया है किंतु उसे संस्कृत भाषा में अत्यधिक शक्तिशाली काव्य माना जाता है। सातवीं शताब्दी मे भर्तृ हरि अपने क्षेत्र में अद्वितीय थे। वे थोड़े काव्य रत्नों के लिये विख्यात हैं, जिन्हें शतक कहा जाता है, जो सिद्धांतों तथा कला कौशल की बड़ी गहरायी प्रकट करते हैं।

7. नयी हवाएं और नयी धाराएं

दक्षिण में इस्लाम, अद्वैत, भक्ति तथा राजपूत संस्कृति

(700 ईस्वी—1040 ईस्वी)

हर्ष के बाद 300 वर्ष राजनैतिक फूट और बौद्धिक निष्क्रियता का काल था। देश अनेक छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था, जिसने उनमें रहने वाले लोगों का दृष्टिकोण उनके अपने छोटे संसार तक सीमित बना दिया और राष्ट्रीय एकता की भावना करीब करीब पूरी तरह गायब हो गयी। धार्मिक और बौद्धिक जीवन औपचारिकताओं तथा सत्तावाद के प्रभाव में था। पौराणिक हिंदुत्व के दो पंथ, शिव और विष्णु की पूजा करने वाले दो अलग अलग धर्मों के रूप में विकसित हो गये थे। धार्मिक चेतना बहुत अधिक थी किंतु ताजगी और गहरायी नहीं थी। धर्म पर लेखन, पुराणों की संपूर्ति या स्मृतियों की प्रतिकृति तक सीमित हो गया था। प्राचीन काल के विचारकों की अंधी नकल के द्वारा विचार बिगड़ गये और लिखने की शैली व्याकरण के कड़े नियमों का पालन तथा शब्दाडंबर से जटिल बन गयी। नाटक, कविता और साहित्य की अन्य शाखाओं के संबंध में भी यही वास्तविकता थी। तकनीक की कठिनाइयों से उनका पूरा रस निकाल लिया गया था। रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा छंदशास्त्र एवं लिखने की कला पर पुस्तकों की मात्रा काफी बढ़ गयी थी। प्राचीन कृतियों पर टीकाएं, टीकाकारों के लिए निर्धारित व्यापक नियमों के अनुसार ही बड़ी संख्या में लिखी गयीं।

यह ह्रास उस समय प्रारंभ हुआ जब आक्रमणकारी शक, हूण और गुर्जरों ने गुप्त साम्राज्य का अंत कर दिया और भारत में बस गये। ग्यारहवीं शताब्दी के अंत तक ये युद्ध के जोखिम लेने वाली जातियां, जो ताजगी और शक्ति से भरपूर थीं, संपूर्ण भारत में फैल गयी थीं और प्राचीन बड़े राज्यों के अवशेषों पर अपने छोटे छोटे बहुत से राज्य स्थापित कर लिये थे। किंतु ऐसा प्रकट होता है कि उन घुमक्कड़ों को, भारत आने के कुछ समय बाद ही, श्रेष्ठ सांस्कृतिक जीवन मिला और उन्होंने क्रमशः हिंदू धर्म और संस्कृति को अपना लिया। हिंदू समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने को प्राचीन क्षत्रिय वीरों का वंशज बताया और अपने को राजपूत कहने लगे।

इन राजपूतों ने हिंदू समाज के दुर्बल शरीर में ताजा रक्त भरा और निष्क्रिय

बौद्धिक तथा सांस्कृतिक जीवन में एक हलचल और गतिशीलता उत्पन्न कर दी। राजपूत राज दरबार, कला, साहित्य, कविता और नाटक के केंद्र बन गये। विशेषकर मालवा के राजा भोज ने (1018 ईस्वी से 1055 ईस्वी) जिन्हें द्वितीय विक्रमादित्य के रूप में जाना जाता था, कला और विद्या को संरक्षण प्रदान कर, गुप्त सम्राटों की स्मृति को ताजा बनाया। इसके पहले कन्नौज के महीन्द्रपाल विख्यात नाटककार शेखर के संरक्षक थे। इस काल के अंत समय बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन ने गीत गोविंद के रचयिता जयदेव के संरक्षक के रूप में कविता और साहित्य की अभिवृद्धि में, अपना विशिष्ट स्थान बनाया।

ग्यारहवीं शताब्दी में विद्याध्ययन और साहित्य का यह नव जागरण कश्मीर पहुंच गया। सोमदेव ने दक्षिण भारत की कहानियों के संग्रह का संस्कृत में अनुवाद किया जिसका शीर्षक था 'कथा-सरित्सागर' तथा कल्हण ने रजत रंगणी कश्मीर के इतिहास की कविता में रचना की, जो साहित्य और इतिहास की एक श्रेष्ठ कृति मानी जाती है। बाद में जब लोगों के मस्तिष्क से संस्कृत का प्रभाव समाप्त हो गया और क्षेत्रीय भाषाओं ने ध्यान आकर्षित करना प्रारंभ किया तब राजपूत राजसभाओं में उन्हें बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। इस तरह, कविता की पहली पुस्तक पृथ्वी राज-रासो डिंगल में अजमेर के राजा चौहान की प्रेरणा से लिखी गयी। अधिकतर ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह उनके राज दरबार के कवि चंद बरदाई की कृति थी, किंतु कुछ विद्वान सोचते हैं कि यह विभिन्न चारणों द्वारा रचित गीतों का संग्रह है। राजपूतों के अधीन शिल्प कला ने भी बहुत विकास किया। चित्तौड़, रणथंभौर, मांडू और ग्वालियर के किले तथा खजुराहो (बुंदेलखंड) और भुवनेश्वर के मंदिर उनके यश के प्रमाण हैं। किंतु राजपूतों के काल में, जिस संस्कृति का विकास हुआ, वह वीरता के युग में युद्धवादी लोगों की संस्कृति थी। व्यक्ति की दृष्टि से वह रोमांस और काव्य से ओतप्रोत मालूम पड़ती है, परंतु राष्ट्रीय एकता तथा सामाजिक कल्याण की दृष्टि से निराशाजनक चित्र प्रस्तुत करती है। राजपूत आदिम चेतना से ऐसे अभिभूत थे कि ऐसा प्रतीत होता था कि उनकी वर्ग या जातिगत एकता की भावना भी समाप्त हो चुकी है, राष्ट्रीय एकता के अर्थ में तो कुछ कहने को नहीं था। इसी तरह की भावना संपूर्ण समाज में व्याप्त थी। चार में से प्रत्येक जाति अब बहुत सी उपजातियों में विभाजित हो गयी थीं जो प्रत्येक व्यक्ति से पूरी निष्ठा की अपेक्षा करती थीं। राष्ट्रीयता का विचार ही पूरी तरह गायब हो गया था।

इस समय दक्षिण भारत, सभ्यता की अतिशयता की बुराइयों तथा विदेशी आक्रमणों के विनाशकारी प्रभावों, दोनों से मुक्त था। इसलिए वह उत्तर की तरह राजनैतिक फूट का शिकार नहीं हुआ। विस्तृत प्रायद्वीप में, जिसमें केरल और पांड्या के राज्य सम्मिलित थे, पूरी इन तीन शताब्दियों तक राजनैतिक स्थिरता रही। फिर भी, इस काल के अंत में, एक परिवर्तन आया। किंतु यह परिवर्तन अच्छाई के लिये था, क्योंकि इसने दक्षिण भारत को एक इकाई में बदल दिया। 1005 ईस्वी में चोल शासक राज राजा

के लगभग संपूर्ण प्रायद्वीप का सर्वेसर्वा बन गया और उसकी नवसेना ने श्री लंका को जीत लिया। उसके पुत्र राजेन्द्र चोल ने, बंगाल की खाड़ी के साथ लगे हुए क्षेत्र को मिलाकर अपने साम्राज्य को और आगे बढ़ा लिया।

दक्षिण में अनुकूल परिस्थितियों ने बौद्धिक जीवन को निष्क्रियता से बचा लिया जो कि उत्तर भारत में व्याप्त हो गयी थी। यहां यह काल धार्मिक विचारों के क्षेत्र में, उल्लेखनीय आंदोलन और गतिविधियों के कारण महत्वपूर्ण बन गया। ईसा के बाद 7वीं शताब्दी में शैविते तथा विश्नाविते संतों के दो धर्म संघों ने अपनी धार्मिक भावना के उत्साह से प्रेरित होकर प्रेम और उपासना के पंथ को प्रचारित करने के लिये, पुराणों की शिक्षा को तमिल छंदों में प्रस्तुत किया, जिसे बाद में भक्ति कहा गया। इन रहस्यवादी कवियों में से, शिव के उपासक अडयार और विष्णु के उपासक अलवर के रूप में जाने जाते थे। अलवरों ने हिंदू धर्म को आम जनता का जीवंत अनुभव बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका दी। उनके विचार अधिकतर विष्णु पुराण, भगवद्गीता तथा हिंदू साहित्य की अन्य पवित्र पुस्तकों में से लिये गये थे। उनके गहन मनोभावों और कवित्वमय प्रतिभा ने विष्णु भक्ति को एक स्वतंत्र धर्म का दर्जा दिया, जिसमें, उसके प्रतिद्वंद्वियों शैव, बौद्ध, जैन धर्म की अपेक्षा बहुत अधिक आकर्षण था। एक दूसरा बड़ा धार्मिक आंदोलन जो दक्षिण में उठा, वह शंकराचार्य का था, जिन्होंने उत्तर-मीमांसा की अपनी टीका के द्वारा वेदांत धर्म को पुनरुज्जीवित किया। उनकी शिक्षा का सार यही था कि समस्त पवित्र हिंदू ग्रंथ एक ही सत्य प्रकट करते हैं, अर्थात् विभिन्न मार्गों से एकात्मकता का पंथ। शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर एक है और केवल एक ही रास्ता है उसके सिवा और कोई सत्ता नहीं है। वह निर्गुण है अर्थात् सभी गुण विशेषताओं से रहित। ईश्वर के सिवा अन्य सब जो सत्ताएं दिखती हैं केवल माया है। मनुष्य जब तक अज्ञानता से ग्रस्त है उसे विश्वास करना पड़ता है कि माया वास्तविक है और व्यावहारिक जीवन में उसे इस परिकल्पना के अनुसार कार्य करना पड़ता है। किंतु जो जानता है और अंतिम मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अज्ञानता का आवरण हटाये और वास्तविक एकात्मकता की ओर दृष्टिपात करे। इसकी प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि आध्यात्मिक साधना के द्वारा इंद्रियों और प्रत्यक्ष ज्ञान का दमन नहीं होता और व्यक्ति रहस्यमय अवस्था में नहीं पहुंच जाता।

शंकराचार्य का दर्शन, जो अद्वैत के रूप में जाना जाता है, हिंदू ज्ञान मार्ग की अच्छी तर्क संगत एवं पूर्ण व्याख्या है। भक्ति के मार्ग या भक्ति योग का, शंकराचार्य के जीवनकाल में, अलवर और अडयार कवियों द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया। बाद में 10वीं और 11वीं शताब्दियों में अनेक शैव और वैष्णवी आचार्यों ने भक्ति के विचार को दार्शनिक आधार देने का प्रयत्न किया। इनमें से हम रामानुज का उल्लेख करेंगे, जिन्होंने भक्ति संप्रदाय को एक स्वतंत्र धर्म के स्तर तक ऊंचा उठाया और

दक्षिण से उत्तर तक संपूर्ण भारत के लोगों का मन जीतने में सहायता की।

रामानुज ने शंकराचार्य के समान अपनी शिक्षाओं को उपनिषद् के दर्शन वेदांत पर आधारित किया, किंतु उन्होंने उसकी व्याख्या पूर्णरूपेण भिन्न तरीके से की। वे भी विश्वास करते थे कि ईश्वर एक है और इसकी केवल एक ही सत्ता है। किंतु उसे गुणों का प्रतीक मानते थे। ईश्वर सबका स्वामी और सर्वोच्च आत्मा (पुरुषोत्तम) है। वह सृजनकर्ता, रक्षक और संसार का विनाश करने वाला है। उसने स्वयं से प्रकृति और जीवन की रचना की, किंतु उसने अपनी सत्ता की संपूर्णता में न्यूनतम भी अंतर नहीं आने दिया। प्रकृति और जीव दोनों में कुछ वास्तविकता है किंतु उनका अस्तित्व ईश्वर से अलग नहीं है। वे उसकी इच्छा के वशीभूत मात्र उसकी सत्ता की घटनाएं हैं। मनुष्य की आत्मा कर्म और ज्ञान की माध्यमिक अवस्थाओं से निकलने के बाद, परमात्मा की उपस्थिति में, अंतिम स्थिति में पहुंचती है और मोक्ष को प्राप्त होती है।

शंकराचार्य द्वारा सिखाया गया अद्वैत मार्ग तथा अलवर कवियों द्वारा प्रवर्तित भक्ति मार्ग भारत के धार्मिक इतिहास में, नये आंदोलन प्रतीत होते हैं। जब हम इन आंदोलनों की उत्पत्ति के मूल पर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि ये आंदोलन प्राचीन धार्मिक विचारों पर आधारित थे, जिनके पुनरुत्थान में बदलती हुई सामाजिक, राजनैतिक स्थितियों ने सहायता की। यह पुनरुत्थान इस विशेष समय में, दक्षिण भारत में क्यों हुआ, इसे समझाने के लिये, इस प्राक्कल्पना को स्वीकार करना पड़ेगा कि कुछ अंशों में यह विदेशी संस्कृति के प्रभाव के कारण था। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यह विदेशी प्रभाव, नेस्टोरियन क्रिश्चियन धर्म का था, जो एक लंबे समय से दक्षिण भारत में फैल गया था। किंतु डा. ताराचंद ने अपनी मूल्यवान पुस्तक "भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव" में यह सिद्ध किया कि ये आंदोलन इस्लाम के प्रभाव से प्रेरित थे। पूर्व काल के अंतिम समय में, मुसलमानों, अरबों का दक्षिण भारत से संपर्क प्रारंभ हो चुका था। इस्लाम धर्म के उदय के पहले, अरब और दक्षिण भारत के बीच व्यापार संबंध अनेक शताब्दियों तक कायम रहा। परंतु 7वीं शताब्दी में जब इस्लाम ने अरबवासियों में साहस और उद्यम की नयी भावना उत्पन्न की, तब उनका वैदेशिक व्यापार बड़ी तेजी से बढ़ने लगा और ईरान पर विजय से उन्हें भारत-ईरान नाविक व्यापार का एकाधिकार मिल गया। शीघ्र ही वे श्रीलंका और मालाबार के तट पर बस गये। चूंकि वे शांत व्यापारी के रूप में आये थे, हिंदू राजाओं और उनकी प्रजा ने उनका स्वागत किया और उन्हें न केवल अपने धर्म को व्यक्त करने तथा पालन करने की, बल्कि उसके प्रचार और शिक्षा देने की भी पूर्ण स्वतंत्रता दे दी। उन्होंने अपनी इस स्वतंत्रता का पूरी तरह उपयोग किया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनके उत्साह ने पड़ोसी हिंदुओं के मस्तिष्क में सुप्त दैवी अग्नि को प्रज्जवलित किया और उनके धार्मिक जीवन में हलचल उत्पन्न कर दी।

लगभग इसी समय अरब के मुसलमान सिंध आये और उन्होंने उस क्षेत्र पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। ईसा के बाद 8वीं शताब्दी के प्रारंभ में श्रीलंका के शासक ने

कुछ अप्रवासी अरबवासियों, जिनकी मृत्यु हो गयी थी, की अनाथ पुत्रियों को, हेदजाज के गवर्नर हज्जाज इब्ने युसूफ के पास भेजा। जिन जहाजों में वे यात्रा कर रहीं थीं, कच्छ के कुछ समुद्री डाकुओं ने उन पर आक्रमण किया, लड़कियों को बंदी बनाया और ले गये। सिंध के राजा दाहर से, हज्जाज ने उन बंदी लड़कियों को मुक्त किये जाने की मांग की, किंतु दाहर ने उसकी उपेक्षा की। इस हेतु उसे दंडित करने के लिए हज्जाज द्वारा 712 ईस्वी में खोजी यात्रियों का एक दल भेजा गया। वह मोहम्मद इब्ने कासिम था, जिसने सिंध और मुल्तान को जीत लिया और उन्हें इस्लाम खिलाफत से संबद्ध कर दिया।

सिंध ने 861 ईस्वी तक, खिलाफत का आधिपत्य मान्य किया। उसके बाद मुसलमान राजाओं के अधीन छोटे छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित किये गये। मुसलमान क्षेत्र के बाहर, एक बड़ी संख्या में अरब व्यापारी, सिंध से गुजरात और काठियावाड़ हिंदू राज्यों के तटीय क्षेत्रों में बस गये।

हम उस प्रभाव के बारे में जानते हैं, जो पश्चिमी भारत में हिंदुओं और मुसलमानों के संपर्क से, अरब में मुस्लिम संस्कृति पर पड़ा। हम जानते हैं कि खलीफा मन्सूर के शासनकाल में (757 ईस्वी से 774 ईस्वी) हिंदू विद्वान बगदाद आये और अपने साथ ब्रह्मगुप्त का ब्रह्म सिद्धांत तथा खंड-खाडायक लाये जिनका अल फाजरी ने, इन पंडितों की सहायता से, अरबी में अनुवाद किया। बाद में, हारुन के समय में उनके मंत्रियों की उदारता और सहानुभूति, धन्यवाद कि बहुत-सी पुस्तकें संस्कृत से अरबी में अनुवादित हुईं। मंत्रियों ने अरबी के विद्वानों को चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन के लिए भारत भेजा और हिंदू चिकित्सकों को चिकित्सालयों के अधीक्षक के रूप में कार्य करने तथा चिकित्सा, दर्शन, फलित ज्योतिष और गणित ज्योतिष की अनेक पुस्तकें अरबी में अनुवादित करने के लिए बगदाद बुलाया। अल-फिहरिस्त ने बेदबा की दार्शनिक कृति का उल्लेख किया था। प्रोफेसर सचऊ के अनुसार यह बदरायन व्यास का वेदांत सूत्र था। जब तक सिंध अब्बासिद के अधीन रहा, संस्कृत से अरबी में अनुवाद का काम चलता रहा।

किंतु मुसलमानों द्वारा सिंध और गुजरात पर लागू किया गया सांस्कृतिक प्रभाव इस काल में अभी तक पूरी तरह प्रकाश में नहीं आया था। किसी भी तरह, दक्षिण-पश्चिम में भारतीय संस्कृति पर मुसलमानों का प्रभाव सीमित और अप्रत्यक्ष था। यह प्रभाव उत्तर में था, जहां कि तुर्की के मुसलमानों द्वारा 10 वीं शताब्दी में लगातार शृंखला में आक्रमण किया जाना प्रारंभ किया गया और 13 वीं शताब्दी के प्रारंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक चलता रहा। मुसलमान संस्कृति का व्यापक और प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू पर आया। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि इस मुस्लिम संस्कृति की उपस्थिति का मूल कहां था। देश में कैसे आयी और देश के सांस्कृतिक जीवन को स्वरूप देने में उसकी क्या भूमिका रही।

8. भारत आने के पूर्व मुस्लिम संस्कृति

मुस्लिम संस्कृति के आधार के रूप में इस्लाम

इस्लाम का जन्म स्थान अरब,बड़े भौगोलिक क्षेत्र का एक भाग है,जो लाल सागर,अरब सागर,फारस की खाड़ी तथा भूमध्य सागर से लगभग घिरा हुआ है। पुरानी दुनिया में इस क्षेत्र की केंद्रीय स्थिति रही और तीन महाद्वीपों का यह मिलन बिंदु था। यहां अनेक महान संस्कृतियां उभरीं तथा अन्य जो एशिया,अफ्रीका या योरोप में जन्मीं,एक दूसरे के संपर्क में आयीं। इस काल में, जबकि भूमध्य सागर और हिंद महासागर के बीच का लगभग पूरा व्यापार थल मार्ग से होता था,सीरिया,पैलेस्टाइन,हेजाज और यमन इस बड़े मार्ग पर स्थित थे,जो पूर्व और पश्चिम को जोड़ते थे। पुरानी दुनिया में यदि कोई ऐसा स्थान था जहां सार्वभौमिक मानवीय भाईचारे के संबंधों को साकार कर सकें,तो वह यह केंद्रीय क्षेत्र ही था।

इस्लाम आशा और विश्वास का नया संदेश,जो अरब के पैगंबर ने दुनिया को दिया,एक नया धर्म होने का दावा नहीं करता था। शाश्वत् सत्य,जिसे ईश्वर के विशिष्ट संदेशवाहक समय समय पर दुनिया के विभिन्न देशों को उद्घाटित करते रहे हैं, वह उसकी अधिक पूर्णता के साथ केवल पुनरावृति करता है। इस तथ्य को समझाने के लिए कुरान,दीन और शरिया पदों का प्रयोग करता है। दीन सभी धर्मों में लागू धार्मिक और नैतिक आदर्श है, कितु जिसमें सभी धर्मों का स्पष्ट रूप से नाम लिया गया है, जबकि दूसरों का निहित अर्थ के कारण संदर्भ आता है। शरिया एक सकारात्मक कानून है, जिसके माध्यम से एक धर्म विशेष बताये हुए समय पर,समान शाश्वत् आदर्श को प्राप्त करता है। दीन हमेशा वही रहा और वही बना रहेगा। किंतु शरिया भिन्न भिन्न समय में विभिन्न लोगों के लिए अलग अलग रहा। इस्लाम दीन के रूप में सभी धर्मों के द्वारा बताये शाश्वत् सत्य को मान्यता देता है और उसकी पुष्टि करता है। किंतु इस्लामी शरिया सभी पिछले शरियाओं को नकारता है। इस्लाम की शिक्षाओं का मूल स्त्रोत कुरान है, जिसका पाक मोहम्मद पैगंबर को बोध हुआ। पैगंबर की परंपराएं अधिकांश मुसलमानों द्वारा एक दूसरा विश्वस्त आधार मानी जाती हैं।

कुरान द्वारा विकसित दो आधारभूत अवधारणाएं ये हैं—

(1) ईश्वर की धारणा,जो ब्रह्मांड में से अनुमानित की गयी है।

(2) ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंधों की धारणा, जो मनुष्यों के एक-दूसरे के साथ संबंध तथा व्यक्ति और समाज के सदस्य के रूप में उनके अधिकार और कर्तव्य निर्धारित करती है।

सृष्टि में एक 'अंतर्दृष्टि' मनुष्य को, कार्यपद्धति और समन्वय, उद्देश्य और रूपरेखा प्रकट करती है, जो सृष्टिकर्ता के ज्ञान और दूरदर्शिता की ओर संकेत करते हैं। उसने संसार की जिस उद्देश्य से रचना की, उसका केवल उसे ही ज्ञान है, किंतु उसके स्वरूप में उसके संरक्षण की व्यवस्था है, और वह संतुलन सौंदर्य तथा न्याय दर्शाता है, जिससे हमें सृष्टिकर्ता (खालिक) और पालक (रब) की धारणा मिलती है, जो कृपावंत और दयालु (रहमान और रहीम) है।

सृष्टि कार्यकारण संबंधों पर अवलंबित है; इसी प्रकार मानवीय क्रियाएं हैं। मनुष्य के प्रत्येक कर्म का एक निश्चित प्रतिफल (जजा) होता है जो सामान्य तौर से उसे उसके जीवनकाल में ही प्राप्त होता है। जब संसार का अंत होता है तब एक दिन इंसाफ (यौमुद्दीन) के लिये आता है, जब मनुष्य का संपूर्ण जीवन तराजू में तोला जाता है, और निर्णय में स्थायी पुरस्कार तथा दंड की घोषणा की जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि कुरान में ईश्वर के गुणों की धारणा संसार की एक विशेष धारणा से संबद्ध है। कुरान, संसार को एक पुरस्कार और दंड के रूप में देखता है, जो संतुलित न्याय पर आधारित है। किंतु मनुष्य का जीवन उसके इस संसार से विदा लेने पर समाप्त नहीं होता। एक दूसरा संसार है, जहां उसे उसके सब कार्यों का अंतिम पुरस्कार या दंड प्राप्त होता है।

दूसरे अनेक धर्मों द्वारा अपनायी गयी प्रवृति के विपरीत, इस्लाम इस संसार के मूल्यों और इस जीवन की निंदा नहीं करता। कर्म क्षेत्र और आने वाले संसार की उत्पादक भूमि के रूप में वर्तमान संसार मनुष्य के लिये बड़ा महत्वपूर्ण और मूल्यवान है। चरम सत्ता की दृष्टि से संसार में कितनी वास्तविकता है, के संबंध में कुरान की कोई दिलचस्पी नहीं है। जिस बात पर वह जोर देता है, वह यह है कि मनुष्य के संबंधों की दृष्टि से, संसार में उतनी ही वास्तविकता है, जैसी कि स्वयं उसकी। सभी व्यावहारिक कार्यों के लिये दोनों वास्तविक हैं। यह जीवन और भौतिक संसार की स्वीकारोक्ति इस्लाम के लिये विशिष्ट बात है।

जैसाकि हमने देखा है कि संसार की धारणा में यह निहित है कि सृष्टिकर्ता एक सर्वोच्च सत्ता पालक, कृपावंत और दयालु है। ये ईश्वर के बुनियादी गुणधर्म हैं, जिनमें से अन्य अनेक गुण उत्पन्न होते हैं।

कुरान ने ईश्वर (अल्लाह) के गुणों का विवरण निश्चितता और विस्तार से दिया है, किंतु उसने उनकी मूलभूत सत्ता की चर्चा करने में बड़ी सावधानी बरती है। ईश्वर और संसार की मूलभूत प्रकृति का प्रश्न मीमांसात्मक दर्शन में सबसे अधिक नाजुक बात है। केवल धर्म विज्ञान में नहीं, बल्कि तात्विक विज्ञान में भी सत् की धारणा सकारात्मक होने

के बदले अधिक निषेधात्मक है। कुरान अपने को ईश्वर की एकात्मकता पर जोर देने तथा सभी दशाओं में उसके स्वतंत्र रखने तक सीमित रखे हुए है। उसकी प्रकृति के सकारात्मक पहलू की बिल्कुल चर्चा नहीं की जाती।

कुरान में ईश्वर की एकात्मकता पर बहुत अधिक बल दिया गया है। वह ईश्वर के किसी गुण को बांटने से रोकता है; केवल उसकी मूलभूत सत्ता ही विचारों या वाणी में रहे। किंतु जहां तक अवस्थाओं का संबंध है, कुरान बीच का मार्ग अपनाता है। वह ईश्वर की भौतिकता एवं अन्य स्थितियों से, जिनसे असीम बातें संबद्ध हैं, मुक्त होने की बात करता है, किंतु अभ्यस्त नहीं होने वालों के विचारों को उस सीमा तक नहीं ले जाता कि जिससे मनुष्य की सीमित बुद्धि के लिए ईश्वर के संबंध में किंचित भी विचार बनाना असंभव हो जाये। वह ईश्वर के सकारात्मक गुण निर्धारित करता है, किंतु यह सोचने के विरुद्ध चेतावनी देता है कि ये गुण मनुष्यों के गुणों के समान हैं। मनुष्यों के गुणों के लिये जिन शब्दों का उपयोग किया जाता है वे शब्द दैवी गुणों के उपयोग करने के लिये मनुष्य बाध्य है, किंतु यह आवश्यक रूप से ध्यान में रखा जाना चाहिए कि दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं।

सर्वोच्च सत्ता के प्रति प्रेम और भक्ति, आस्था रखने वालों के लिये सबसे पहली आवश्यकता है। सच्ची भक्ति के लिये, हृदय की पवित्रता तथा मन की एकाग्रता को प्रवृत करने के लिये नमाज, रोजा (उपवास) और हज (मक्का की तीर्थयात्रा) अनिवार्य बनाये गये हैं। फिर भी सच्ची भक्ति मात्र अनुष्ठान नहीं, बल्कि उसके द्वारा निर्धारित किये गये नैतिक नियमों का पालन करते हुये तथा उस कार्य के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुये, जो उसने सृष्टि को सौंपा है, ईश्वर इच्छा का पालन करना है। ईश्वर की इच्छा के प्रति यह बिना शर्त समर्पण है, शब्द तथा धर्म विज्ञान के अर्थ में, इस्लाम है। यह मनुष्य जीवन के साथ, सृष्टि के नियमों के साथ सामंजस्य स्थापित करता है, जो मनुष्य की स्वयं की प्रकृति का नियम है।

ईश्वर के साथ एकात्मकता में दूसरा निहित अर्थ, जिस पर बल दिया गया है, वह भक्ति या बिना शर्त समर्पण है, जो ईश्वर के सिवा किसी के प्रति नहीं होना चाहिए और उसके सिवा और किसी से सहायता प्राप्त नहीं करनी चाहिये क्योंकि वही भक्ति के योग्य है और वही आवश्यकता पर सहायता करता है। बिना शर्त समर्पित होना या किसी सहधर्मी या अन्य कोई असीम सत्ता की सहायता पर खुले रूप में विश्वास करना, एक मनुष्य के लिये अपनी गरिमा खोना है जो इस्लामी शरिया में सबसे बड़ा पाप है।

एकता के सिद्धांत से कुछ अन्य उप सिद्धांत उत्पन्न होते हैं, जिन्हें इस्लाम में बुनियादी तौर से महत्वपूर्ण माना जाता है। सृष्टिकर्ता की एकात्मकता का अर्थ है सृजन, जो उसे विचार की ओर ले जाता है, कि मानव समाज एक ऐसा अवयव है, जिसके सदस्य एक दूसरे से मजबूत बंधन में बंधे हुये हैं। यह मनुष्य के सार्वभौमिक बंधुता की धारणा का आधार है। पुरुष और स्त्री, मालिक और नौकर, धनवान और गरीब, सभी को कुरान

एक दूसरे के बराबर मानता है। कोई भी व्यक्ति, लिंग या जाति या रंग या वर्ग या व्यवसाय के आधार पर, किसी दूसरे से श्रेष्ठ नहीं है। भेद का केवल एक ही आधार है तक़वा अर्थात् ईश्वर का भय, उसके नियमों का पालन करना, उसकी और उसके जीवों की सेवा करना। व्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा या समानता एक महत्वपूर्ण पहलू है और कुरान ने व्यक्ति के स्वतंत्र स्थान और मूल्य को मान्यता प्रदान की है। प्रत्येक व्यक्ति का ईश्वर से सीधा संबंध है, उनके बीच में कोई मध्यस्थ नहीं है। पैगंबर एक शिक्षक या नेता होता है, जो अपनी नीति, वचन और उदाहरण के द्वारा ईश्वर से संबंध स्थापित करने और संबंध बनाये रखने का मार्ग दिखाता है। उसका एक पूर्ण विकसित व्यक्तित्व होता है जो कुरान की आयतों के अनुसार, 'ईश्वर को आदर्श मानकर अपने चरित्र का निर्माण करे,' अपने में दैवी गुणों के मानवीय पहलू समाहित करने में सफल हुआ है और प्रत्येक व्यक्ति के लिये, एक आदर्श के रूप में अनुकरणीय बनता है। किंतु व्यक्तित्व का, जिसको कुरान चाहता है प्रत्येक व्यक्ति विकसित करें, सामाजिक जीवन के साथ सामंजस्य होना चाहिये। व्यक्ति का नैतिक विकास तथा आध्यात्मिक पूर्णता समाज में ही संभव है। एकांतवासी का तपस्वी जीवन, जो उसे अपने सहगामियों से दूर रखता है, कुरान द्वारा पूर्णतया अमान्य कर दिया गया है, क्योंकि कुरान सामाजिक भावनाओं के विकास को इतना महत्व देता है कि उसने बुनियादी धार्मिक कार्यों, जैसे नमाज और हज को सामूहिक कार्य बनाया है और ईश्वर के प्रति कर्तव्य की अपेक्षा सहगामियों के प्रति कर्तव्य को प्राथमिकता दी है।

इस्लाम की इस अवस्था की धारणा कुरान में यह है कि सर्वोच्च सत्ता यथार्थ में ईश्वर में ही निहित है। वह, इसे पैगंबर को हस्तांतरित करता है और पैगंबर से खलीफा या इमाम के पास जाती है। सर्वोच्च सत्ता जिस प्रकार से खलीफा को हस्तांतरित की जाती है, उसके बारे में कुरान के व्याख्याकारों में मतभेद है। एक संप्रदाय यह विश्वास करता है कि खलीफा पैगंबर की तरह ही अल्लाह के द्वारा नियुक्त किया जाता है; किंतु अधिकांश मुसलमानों का मत है कि कोई जो एक राज्य के मुसलमान नागरिकों की आम इच्छा से स्वीकार किया जाता है, स्वामिभक्ति की शपथ के द्वारा, अधिकृत खलीफा बन जाता है।

जहां तक विधान का संबंध है, कानून (शरिया) के बुनियादी सिद्धांत जो इस्लामी राज्य को शासित करते थे, कुरान द्वारा निर्धारित किये गये थे। पैगंबर ने अपने समय के अरब समाज में लागू करते हुए, इस्लाम के पहले सकारात्मक कानून की रचना की थी। भविष्य में, बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार इस्लामी कानूनों की व्याख्या का दायित्व, मुज्तहिदों या योग्य विद्वानों, जिन्हें कुरान तथा हदीस (इस्लाम की शरिया के) तथा उनके युग की सामान्य विद्या का अच्छा ज्ञान हो, पर छोड़ दिया गया था।

इस धर्मतंत्रीय (मजहबी) अवस्था में कुरान ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता था, जो समानता और बंधुत्व पर आधारित, जाति या देश या वर्ग भेद के बंधनों से मुक्त

हो, जो उसके प्रत्येक सदस्य को शरिया की सीमाओं तथा सामूहिक कल्याण के अंतर्गत भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के संभव उपायों को प्राप्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता देतेहैं।

राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के अन्य पहलुओं के संबंध में कुरान द्वारा अपनायी गयी प्रवृति के लिए सामूहिक कल्याण प्रमुख है। आर्थिक क्षेत्र में निजी संपत्ति को मान्यता दी गयी है, किंतु कुछ ही लोगों के पास संपत्ति के केंद्रीयकरण को रोकने के लिए विशेष सावधानी रखी गयी है। खम और जकात (पूंजी की वसूली के रूप) जिसके भुगतान की प्रत्येक मुसलमान से अपेक्षा की जाती है और उत्तराधिकार के नियम इस दृष्टि से निर्धारित किये गये हैं। भूमि पर निजी स्वामित्व (जो उन दिनों संपत्ति उत्पन्न करने का केवल एकमात्र साधन था) अनेक सीमाओं के बंधन में था कि उसमें नाम मात्र का स्वत्वाधिकार ही होता था। उन दिनों प्रचलित गुलामी, सूदखोरी और नाका वसूली के शोषण के तीन तरीकों में से, दो समाप्त कर दिये गये थे। गुलामी की पद्धति में सुधार किया गया था, जिसके अनुसार युद्ध के कैदियों को परिवारों के साथ, सशर्त नौकर के रूप में अधिकार एवं कर्तव्य के साथ, तब तक के लिए संलग्न कर दिया जाता था, जब तक कि वे मुक्त न हो जायें (यद्यपि सामान्य पतन के बाद के समय में पद्धति स्पष्ट गुलामी में बदल गयी)। सूदखोरी और नाका कर सख्ती से प्रतिबंधित कर दिये गये थे। संक्षेप में इस्लाम ने शोषण केवल उपदेश के द्वारा नहीं बल्कि नियम के द्वारा रोकने का प्रयत्न किया और इस तरह से आर्थिक जीवन पर राज्य के नियंत्रण के उदाहरण प्रस्तुत किये। कला और साहित्य को भी अधिकतर सामूहिक जीवन के लाभ के लिये लगाया गया था। कुरान द्वारा कवियों की उद्देश्यहीन अनियंत्रित कल्पनाओं की भर्त्सना की गयी और रचनात्मक, प्रेरणास्पद, उल्लासमय कविताओं को प्रोत्साहित किया गया। पैगंबर और उनके उत्तराधिकारियों ने, इस्लामी अरब के पूर्व के कवियों की कविताओं की भर्त्सना की, जिनमें आपत्तिजनक नग्न चित्रण था और जिनमें जंगली-पन तथा प्रतिशोध की भावनाएं निहित थीं, किंतु उन्होंने इस्लाम के पूर्व की अधिक स्वस्थ, भावुक तथा वीर रस की कविताओं की सराहना की, जिनकी सहज और प्रभाव-शाली कविताओं के सर्वोत्तम उदाहरणों के रूप में गणना थी। संगीत में निराशाजनक और विवादास्पद रागों के स्थान पर, प्रेरणा तथा उत्साह उत्पन्न करने वाले रागों को पसंद किया जाता था। चित्रकला और शिल्पकला में जीवित व्यक्तियों के प्रतिरूप अंकित करना प्रतिबंधित था, क्योंकि उसका मूर्ति पूजा से संबंध था और यह भय था कि सम्मानित नेताओं की प्रतिमाओं की मूर्ति की तरह पूजा होने लगेगी (उदाहरण के लिये पैगंबरों की)।

इस्लामी राज्य और मुस्लिम राज्य

एक लंबे समय तक, मुस्लिम संस्कृति, एक केंद्रीय धर्म प्रधान राज्य या खिलाफत के अधीन विकसित हुयी, जो निम्नलिखित तीन अवस्थाओं में से गुजरी —

(1) पैगंबर और उसके चार धर्म परायण खलीफाओं का शासन।
(2) बनु उमय्या की खिलाफत ।
(3) बनु अब्बास की खिलाफत ।

मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार पहले ने समाज की इस्लामी धारणा को पूर्णतया साकार होते देखा—एक ऐसा समाज, जिसमें सांसारिक और धार्मिक जीवन का सामंजस्य हो, शासक और शासित दोनों का हित साधन हो—एक ऐसा समाज जो जाति, रंग, वर्ग और देश के भेदभावों से मुक्त हो। दूसरी अवस्था में इस्लामी समाज ने सतही एकता को कायम रखा, किंतु सतह के नीचे विघटनकारी शक्तियां क्रियाशील हो गयीं। बनु उमय्या ने वंशानुगत एकाधिकार की परंपरा स्थापित की, जिससे शासक और शासित के बीच, राज्य और नागरिकों के बीच तथा अरबों और गैर अरबों के बीच भेद की खाई उत्पन्न हो गयी जो अधिक खतरनाक सिद्ध हुयी। राजसभाओं में शान शौकत का जीवन तथा संपन्नता की वृद्धि का अरब के मुसलमानों के जीवन पर उल्टा असर पड़ना प्रारंभ हुआ, किंतु संपूर्ण रूप में उन्होंने अपनी उद्यमशीलता कायम रखी और बहादुर सिपाहियों की तरह अपने राज्य की तथा अपने धर्म की, प्रतिस्पर्धात्मक मिशन के साथ सेवा करते रहे। तीसरी अवस्था पृथकतावादी तथ्यों के उभरने के साथ प्रारंभ हुई, क्योंकि अब्बासी खिलाफत में प्रजातंत्र की भावना से शासन के सभी तरीके त्याग दिये गये। शान शौकत और खलीफाओं का व्यक्तिगत अधिकार इस सीमा तक बढ़ गया कि धर्मनिरपेक्ष राज्य में उसके और सर्वोच्च राजशाही के बीच केवल इतना अंतर रहा कि कुछ सीमा तक इस्लाम के नियमों को, न्याय के प्रशासन में मानना पड़ता था। प्रथम, कुछ अब्बासी खलीफा, कुछ अंशों में, लोकप्रियता अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण कायम रख सके, किंतु उनके योग्य और कमजोर उत्तराधिकारियों ने मुसलमान प्रजा का समर्थन खो दिया। अब राज्य और समाज के बीच खलीफा और जन समाज के बीच अलगाव स्थापित हो गया। उसने लोगों की सद्भावना से नहीं बल्कि सेना की सहायता से राज्य किया।

समानता और स्वतंत्रता के प्रजातांत्रिक सिद्धांतों को दबाने से, जिस पर पैगंबर और उनके उत्तराधिकारियों द्वारा खिलाफत की नींव डाली गयी, परिणाम यह हुआ, कि यह महान ढांचा टूट गया। स्पेन और इजिप्ट पहले मुक्त हुए, अन्य उसके बाद। राजनैतिक क्षेत्र में अलगाव की प्रवृति सांस्कृतिक जीवन में प्रतिबिंबित हुयी। तेरहवीं शताब्दी के मध्य से, मुसलमान देशों के सांस्कृतिक जीवन में, सामान्य तथा अंतर्राष्ट्रीय तत्व क्रमशः कमजोर होते गये और राष्ट्रीय या स्थानीय तत्व अधिक मजबूत हो गये। इस तरह इस्लामी राज्य और इस्लामी संस्कृति ठीक ठीक अर्थों में पैगंबर और उसके चार खलीफाओं के अधीन, लगभग अर्द्ध शताब्दी तक चली। खिलाफत बनु उमय्या के अधीन और निश्चितता से बनु अब्बास के अंतर्गत राजनैतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में आंशिक रूप से ही इस्लाम से संबंधित थी। तथाकथित मुस्लिम राज्य, जो 13वीं शताब्दी

के मध्य में अब्बासी खिलाफत के भंग होने के बाद प्रकट हुए, वे या तो मुसलमान शासकों के वंशानुगत राज्य थे या मुसलमान जनता के राष्ट्रीय शासन थे और उनमें इस्लाम की राजनैतिक या सांस्कृतिक भावना नहीं थी।

9. भारत में हिंदू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के बीच संपर्क

पूर्व में ही जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है कि 712 ईस्वी में, मुसलमान आक्रमणकारियों के रूप में भारत आये और सिंध तथा मुलतान में अपना शासन स्थापित कर लिया। संभवतः दक्षिण भारत में और पहले उन्होंने व्यापारी के रूप में आना प्रारंभ कर दिया था। आठवीं शताब्दी से उन्होंने सिंध से काठियावाड़ और गुजरात समुद्र तट पर बसना प्रारंभ कर दिया था। इस तरह इस्लाम संस्कृति और हिदू संस्कृति के बीच संपर्क एक प्रकार से 8वीं शताब्दी में प्रारंभ हो चुका था। चिकित्सा शास्त्र, गणित और ज्योतिष शास्त्र पर हिंदू विद्वानों की पुस्तकों का संदर्भ मिलता है, जो सिंध से अरब ले जायी गयीं और मुसलमानों के बौद्धिक विकास में सहायक हुईं। मुसलमानों के विचारों से, हिदुओं के भक्ति आंदोलन को जो गति मिली, उसका भी उल्लेख किया जा चुका है। दक्षिण भारत के लोगों पर, अरब के मुसलमानों की पोशाक, रीति-रिवाज और व्यवहार के कुछ चित्र मिलते हैं, चूंकि इस दिशा में, वैज्ञानिक खोज नहीं हुई, अतः इम बिंदु पर दृढ़ता से जोर देने का जोखिम हम नहीं ले सकते।

फिर भी 10 वीं शताब्दी के अंत तक मुसलमानों ने हिदू संस्कृति की परिधि को ही छुआ था। उसके केंद्र बिंदु से वे अब भी बहुत दूर थे। ग्यारहवी शताब्दी में गजनवियों के पंजाब और मुल्तान पर अधिकार प्राप्त करने के बाद भी हिंदू और मुसलमान संस्कृतियों के बीच संपर्क प्रारंभ नहीं हुआ था, बल्कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद वास्तविक संपर्क प्रारंभ हुआ। मुसलमानों द्वारा उत्तर भारत पर आक्रमण गजनी से प्रारंभ हुए,जो उस राज्य की राजधानी थी, जिसमें वर्तमान अफगानिस्तान का बहुत बड़ा भाग तथा ईरान का कुछ हिस्सा शामिल था। यह बड़े राज्यों में से एक था, जिससे साहसिक तुर्की प्रमुखों ने, अब्बासी खिलाफत की शक्ति का ह्रास प्रारंभ होने के बाद, स्थापित किया था। पंजाब का पहला आक्रमण 986-987 में सुबुक्तगीन द्वारा किया गया था। उसका पुत्र महमूद लूटमार और विजय के युद्ध अपने पूरे शासनकाल तक चलाता रहा और गजनवी शासन स्थापित करने में सफल हुआ, जो पेशावर तथा पंजाब के पश्चिमी बड़े भूभाग पर 150 वर्ष तक कायम रहा। 1170 में मुहम्मद गौरी ने, जिसने गजनी साम्राज्य गजनवी वंश से छीन लिया था, भारतवर्ष में अपना क्षेत्र बढ़ाने के प्रयत्न में एक नया

अभियान प्रारंभ कर दिया। एक मिट जाने वाली हार को भोगने के बाद, वह और उसके नायक कुतुबुद्दीन ऐबक ने राजपूत नरेशों के आपस के मतभेदों का लाभ उठाया और उत्तर भारत का बहुत बड़ा हिस्सा जीतने में सफल हुए। जब मुहम्मद गौरी की मृत्यु हुई, कुतुबुद्दीन ऐबक, भारतीय साम्राज्य का स्वतंत्र शासक बन गया, जो दिल्ली सल्तनत के रूप में जाना गया। यह 1206 ईस्वी में था।

दिल्ली सल्तनत पर लगभग 300 वर्षों तक, एक के बाद दूसरे, अनेक मुसलमान वंश के राजाओं ने राज्य किया। उन राजाओं के राज्य का विस्तार भिन्न भिन्न था। जहां अलाउद्दीन खिलजी के अधीन करीब करीब संपूर्ण भारत था, तो सैयदों के अधीन दिल्ली के आसपास का बहुत छोटा क्षेत्र था।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना भारत के इतिहास में एक युग का निर्माण करने वाली घटना थी। हर्ष की मृत्यु के बाद 500 वर्षों में पहली बार भारत में पर्याप्त राजनैतिक एकता आयी। यद्यपि नये राजा विदेशी थे, किंतु उन्होंने भारत को अपना घर बना लिया। यदि वे एक लंबे समय तक अपने मूल स्थान और उसकी संस्कृति से अलग रहे होते, जैसे ग्रीकनिवासी जो बक्ट्रीया से द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व आये या उनकी संस्कृति, सीथियन और हूण के समान प्राथमिक अवस्था में रही होती, तो वे हिंदू समाज में मिला लिये गये होते। किंतु चूंकि वे, उन्नत अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतिनिधि के समान थे और लगातार भारत के बाहर, उस संस्कृति से संपर्क बनाये रखे, पूरी तरह भारतीयता लाने में उन्हें बहुत समय लगा।

यथार्थ में, उन्होंने भारत में उसी तरह का इस्लामी राज्य स्थापित करना चाहा जैसाकि दूसरे मूसलमान देशों में था अर्थात शरिया की सीमाओं में वंश परंपरा का राजतंत्र, उसके गैर मुसलमान विषयों को धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता तथा कुछ राजनैतिक अधिकार देते हुए। फिर भी, जैसाकि हम देखेंगे कि दिल्ली सल्तनत को एक इस्लाम राज्य बनाने के प्रयत्न, इस सीमित अर्थ में भी सफल नहीं हुए। उसका दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम केवल भारत की राजनैतिक एकता को एक नयी राष्ट्रीय एकता का रूप लेने से रोकना रहा।

किंतु हिंदुओं और मुसलमानों के एक साथ रहने के तथ्य ने सांस्कृतिक समझ की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी थी, जिसके परिणाम तीन शताब्दी बाद सामने आये। दिल्ली सल्तनत इस स्व-स्फूर्त एकीकरण की प्रक्रिया को उद्देश्यपूर्ण बनाने से दूर उसे समझ भी नहीं सकी। वह मुगल सम्राट अकबर था, जिसने हजार वर्षों में, जो हर्ष की मृत्यु के समय से बीत चुका, पहली बार भारत की राष्ट्रीय एकता को पुनर्जीवित करने के लिये सजगता से प्रयत्न किए। दिल्ली सल्तनत का 300 वर्षों का सफलताओं और असफलताओं का इतिहास सामने होने पर इस कार्य में उसे बड़ी सहायता मिली।

सांस्कृतिक आदर्श, जिसे दिल्ली सल्तनत ने प्राप्त करने का प्रयत्न किया, तथा राष्ट्रीय एकता के लिये उसमें निहित अर्थों की दृष्टि से अब हमें इस काल की समीक्षा करनी होगी।

तेरहवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्ध भाग में, जब दिल्ली सल्तनत स्वरूप ग्रहण कर रहा था, पूर्वी इस्लामी दुनिया के लिये कुल मिलाकर एक संकट और विघटन का समय था। अब्बासी खिलाफत के पतन, बातिनी संप्रदायों की विघटनकारी गतिविधियां, पश्चिम से योरोप के धर्म युद्ध कर्ताओं और पूर्व से मुगलों के दबाव ने मुसलमान राज्यों को कमजोर बना दिया और इस्लाम की सांस्कृतिक शक्तियों के संगठित होने के लिये कोई आधार ही नहीं बचा था।

दिल्ली सल्तनत के उत्कर्ष ने संगठित होने का इस तरह का आधार दिया। विद्वान, संत, कवि, सेना नायक, राजनेता, दिल्ली की ओर आकर्षित हुए, जिस प्रकार लोहे की रेतियों को चुंबक खींचता है। इसलिए सल्तनत की नींव रखने वालों के पास यह सोचने के लिए समय नहीं था कि नये राज्य को क्या रूप दें। कुतुबुद्दीन ऐबक के शासन काल के बाद, जो केवल सैनिक प्रशासन का समय था और इल्तुमिश के 25 वर्षों के शासन काल में, दिल्ली सल्तनत आप से आप लगभग उस काल के पूर्वी मुसलमान राज्यों के सांचे में ढल गयी थी; अर्थात् बगदाद के खलीफा की नाममात्र की सत्ता के अधीन वह एक स्वतंत्र राजतंत्र बन गया, यह घोषित करते हुए कि वह शरिया द्वारा नियंत्रित है। बगदाद की खिलाफत के प्रति नामभात्र की निष्ठा, मंगोलों द्वारा, उसके विनाश के बाद, इजिप्ट के फातिमी खलीफों और सैयदों के अधीन, तैमूर को स्थानांतरित हो गयी। लोधी और सूरी वंशज अपने को बिना किसी विशिष्ट व्यक्ति का नाम लिए, खलीफा के साधारण प्रतिनिधि बताने लगे, जैसाकि उनकी मुद्राएं प्रदर्शित करती हैं।

केवल खिलाफत के संबंध में नहीं बल्कि दूसरे मामलों में भी दिल्ली सल्तनत का इस्लाम चरित्र काल्पनिक कथानक से अधिक कुछ नहीं था। परशिया के राजतंत्र की निरपेक्षवादी अवधारणा जो चार अधिकृत खलीफाओं के बाद, इस्लाम राज्य में प्रवेश कर गयी थी, परशियन और तुर्की राजाओं द्वारा शासित राज्यों में और अधिक स्पष्ट हो गयी। किंतु दिल्ली सल्तनत में यह गैर इस्लामी निरपेक्षवाद और अधिक स्पष्ट हो गया। परशिया और तुर्की के राज्यों में राजा केवल सांविधानिक नियमों के क्षेत्र में तथा कुछ सीमा तक भू-राजस्व प्रणाली के संबंध में इस्लाम के मार्ग से अलग हटे थे। अन्य अधिकांश मामलों में उन्हें फुकाहा (इस्लाम कानून के ज्ञाता) द्वारा शरिया की जो व्याख्या दी गयी है, उसका पालन करना पड़ता था। किंतु दिल्ली सल्तनत में सुल्तान के निजी जीवन तथा राज्य के प्रशासन में शरिया का मानना या न मानना, उनकी मधुर इच्छा पर निर्भर करता था। विशेषकर सामान्य कानून के क्षेत्र में, सुल्तान की इच्छानुसार विधान बनाने के अधिकार को, सभी के द्वारा मान्यता दी जाती थी।

आर्थिक मामलों में भी, दिल्ली सल्तनत, अन्य इस्लाम राज्यों की तुलना में इस्लाम द्वारा निर्धारित तरीकों से अधिक विचलित हुआ। उदाहरण के लिए, कृषि भूमि का लगान जो उत्पादन का पंचमांश था (नीचे स्तर की जमीन के लिए कम) इस्लाम के प्रारंभ से लोधियों और सूरियों द्वारा काफी अधिक बढ़ा दिया गया और एक समय अलाउद्दीन

खिलजी के अधीन एक अर्द्धांश तक बढ़ गया। मुसलमान किसानों को इस्लाम द्वारा मान्य की गयी पचास प्रतिशत की छूट, ऐसा प्रतीत होता है कि दिल्ली सुल्तानों द्वारा कभी नहीं दी गयी। उत्तराधिकार का इस्लामी कानून सख्ती से लागू नहीं किया गया। इस्लाम धर्म में परिवर्तित हुए लोगों को स्थानीय रीति रिवाज अपनाने की अनुमति थी, बहुत से मामलों में जिसका अर्थ था शरिया के किसी एक बुनियादी सिद्धांत का उल्लंघन कर, पुत्रियों को उत्तराधिकार से वंचित करना। ब्याज पर पैसा उधार लेने या देने पर इस्लाम द्वारा सख्ती से प्रतिबंध था, जो कम से कम हिंदुओं के बीच आम बात थी।

सदाचारी खिलाफत का अंत हो जाने के कारण, नैतिकता के क्षेत्र में, राजा का व्यक्तिगत जीवन, व्यवहार में सभी रुकावटों से मुक्त था, किंतु सार्वजनिक जीवन में इहतीसाब (नैतिक प्रतिबंध) जो कुछ मुसलमान राज्यों में कम या अधिक सख्ती से लागू था, दिल्ली सुल्तानों के अधीन इतना शिथिल था कि वास्तव में उसका अस्तित्व ही मालूम नहीं पड़ता था। यद्यपि संपूर्ण रूप से, कुलीन वर्ग नैतिक प्रतिबंधों के अंतर्गत था, किंतु राज्य के नियंत्रण द्वारा नहीं, बल्कि आम जनता की धार्मिक भावनाओं से उत्प्रेरित जनमत के द्वारा वे प्रतिबंध क्रियान्वित होते थे।

संक्षेप में, दिल्ली सल्तनत सीमित अर्थों में भी इस्लामी राज्य नहीं था, जिस अर्थ में मध्यकाल के मुसलमान राज्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता था। यह मुसलमानों का राष्ट्रीय शासन भी नहीं था। इसमें कोई संदेह नहीं कि सुल्तान के सह-धर्मावलंबी होने तथा सेना में मुसलमानों के बड़ी संख्या में होने के कारण, जिन पर वह निर्भर करता था, कुल मिलाकर गैर मुसलमानों की अपेक्षा मुसलमानों से अच्छा व्यवहार किया जाता था। किंतु मुसलमानों के बीच भी भेदभाव किया जाता था। राजशाही मुसलमान आम मुसलमान जनता की तुलना में और विदेशी मूल के मुसलमान स्थानीय मुसलमानों की तुलना में श्रेष्ठ माने जाते थे। फिर भी, राजा के अधीन सभी वर्ग के मुसलमान और हिंदू प्रजा मात्र थे, और राज्य की नीति निर्धारित करने में उनका कोई प्रभाव नहीं था। इसलिए दिल्ली सल्तनत को मुसलमान वंश के अधीन एक निरंकुश राजतंत्र के सिवा और कुछ नहीं कह सकते।

कितु महत्वपूर्ण प्रश्न, जिसमें हमारी दिलचस्पी है, वह है दिल्ली सल्तनत का हिदुओं के साथ संबंध, जो कि जनसंख्या में बहुसंख्यक थे, तथा भारतीय राष्ट्रीयता के संदर्भ में उसमें निहित उलझनें। हमने देखा है कि 9 वीं शताब्दी के प्रारंभ से 10 शताब्दी के अंत तक अधिकांश उत्तर भारत राजपूत नरेशों के प्रशासन तथा युग की वीरतामय भावनात्मकता के प्रभाव में था। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से यह एकदम विघटन का समय था। हिंदू समाज का जाति और उपजातियों में विभाजन, सभी उपयुक्त सीमाओं से बाहर निकल चुका था। राजपूत और ब्राह्मणों के प्रमुख वर्ग भी उप-जाति और गोत्रों में विभाजित हो चुके थे। राजपूतों में आदिम भावना इतनी प्रबल थी कि जो उन्हें कभी समाप्त न होने वाले सामंतवाद की ओर ले जाती थी। ऐसे

वातावरण में कोई भारत की एकता के लिए पहल नहीं कर सका।

विघटनकारी यह वातावरण ही था, जिसने मुसलमान आक्रमणकारियों को भारत पर विजय प्राप्त करने का मौका दिया। महमूद गजनवी के विरोध में कोई संयुक्त मोर्चा नहीं आया। मुहम्मद गौरी के विरुद्ध, अंतिम क्षण में राजपूत प्रशासकों ने एकत्रित होने का प्रयत्न किया, किंतु वह पूर्ण नहीं हुआ। कन्नौज का शक्तिशाली राजा उसमें सम्मिलित नहीं हुआ और प्रतिरोध की भारतीय शक्ति का केवल छोटे रूप में उपयोग हो सका।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से हिंदुओं में वही भावनाएं उत्पन्न हुईं, जैसाकि गुर्जर और हूणों की विजय से हुआ। भौतिक रूप से वे जीतने वाले के समक्ष समर्पित हो गये, कितु उनकी आत्मा ने उन्हें जातिगत और धार्मिक आत्म निर्भरता तथा अकेलेपन के प्रभाव में ऐसा घेर लिया कि उनके और मुसलमानों के बीच परस्पर संपर्क संबंधों की कोई संभावना नहीं रह गयी। म्लेच्छ पद जो मूलतः गुर्जरों तथा हूणों के लिए बनाया गया था, अब मुसलमानों के लिए प्रयोग में लाया जाने लगा। यदि आम हिंदुओं का मुसलमानों से विद्वेष मुख्य रूप से भावुकता पर आधारित था, तो उच्च वर्ग के हिंदुओं के मुसलमान राज्य के प्रति विद्वेष के पक्के कारण थे। हिंदू राजाओं और स्थानीय सरदारों को भय था कि मुसलमान राज्य, उनके अधिकृत क्षेत्रों को अपने में मिला लेंगे। उन्होंने विदेशियों की केंद्रीय सत्ता को भी सहन कर लिया होता यदि उसने सिर्फ कर लगाया होता और बाकी के लिए उन्हें उन पर छोड़ दिया होता। किंतु निरंकुश सरकार, जो उनके प्रभाव क्षेत्रों को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रही थी, केवल स्वलाभ की दृष्टि से नहीं, बल्कि सैद्धांतिक रूप से भी यह सभी भारतीय परंपराओं के विरुद्ध था। राजनैतिक नक्षत्रों में परिवर्तन से ब्राह्मणों ने कम नुकसान नहीं उठाया। यद्यपि सल्तनत ने हिंदुओं को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी थी, उनके वैयक्तिक कानूनों को मान्यता दी गयी तथा उनका पालन कराने के लिए न्यायाधीशों की सहायता के लिए ब्राह्मणों की नियुक्ति की गयी, किंतु उससे किसी भी तरीके से सामाजिक, आर्थिक लाभ हानि नहीं हो सकी और जिसे ब्राह्मणों को एक वर्ग के रूप में सहन करना पड़ा। पूर्व में उन्हें पुरोहितों (पंडितों) ज्योतिषियों, न्यायिक अधिकारियों के रूप में नियुक्त किया गया था और वे राज्य के दानदाता विभागों का संचालन करते थे। (जो अब दिल्ली सल्तनत के द्वारा बदल दिए गए थे)। उनके विशेषाधिकारों को कानून के द्वारा मान्यता प्राप्त थी। राज्य के द्वारा उनकी सुरक्षा की गारंटी थी। किंतु अब, राजनैतिक उतार-चढ़ाव ने, सीधे उनकी अधिकारिक प्रतिष्ठा तथा विशेषाधिकारों को चोट पहुंचाई और अप्रत्यक्ष रूप से उनकी सामाजिक स्थिति और प्रभाव को समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त मुसलमान समाज, जिसमें पुरोहित वर्ग नहीं होता, के उदाहरण ने, ब्राह्मणों को कम महत्व देने के संबंध में, शायद हिंदू समाज को प्रभावित किया।

जहां तक आम लोगों का संबंध है, कालांतर में, उनके संबंध शासकों से यद्यपि अधिक घनिष्ठ नहीं हुए, किंतु साधारण रूप से अच्छे हो गये। असंतोष और अविश्वास

की प्रारंभिक अवस्था के बाद, उन्होंने नयी सरकार को सहयोग देना प्रारंभ कर दिया, क्योंकि उनसे असंतुष्ट रहने के लिए, उनके पास, कोई विशेष कारण नहीं थे। संपूर्ण रूप में मुसलमान राजाओं ने शांति और व्यवस्था बनाये रखी, न्यायोचित ढंग से राज्य किया और अपनी हिंदू प्रजा को धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता प्रदान की। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने दीवानी और अपराध संबंधी कानून बदल दिए और कुछ इस्लामी कानून के प्रावधान लागू कर दिए। किंतु भारत वर्ष में, राजा द्वारा एक अन्य धर्म की शिक्षा देते हुए, अपने स्वयं के कानून अपनी प्रजा पर लागू करना कोई नयी बात नहीं थी। हिंदू और बौद्ध दोनों मत के राजाओं ने यह किया था। वास्तव में, धार्मिक तथा व्यक्तिगत कानूनों के क्षेत्र में धर्मशास्त्र के साथ हस्तक्षेप हिंदुओं के लिए असहनीय होता, किंतु दिल्ली सुल्तान इससे सावधानीपूर्वक बचे। इसके विपरीत उन्होंने केंद्रीय और प्रांतीय न्यायालयों में पंडितों को नियुक्त करने की ओर काफी ध्यान दिया, जिससे हिंदू वैयक्तिक कानूनों तथा जिनका हिंदुओं के धार्मिक जीवन से संबंध है, ऐसे मामलों पर निर्णय लिये जाने में सहायता मिल सके।

यद्यपि दिल्ली सल्तनत ने भारत को राजनैतिक एकता दी, किंतु हिंदू उसे अपना स्वयं का राज्य नहीं मान सके, क्योंकि सिकंदर लोदी और शेरशाह सूरी को छोड़कर शासकों ने उनके और उनकी हिंदू प्रजा के बीच की खाई को पाटने के लिए सकारात्मक प्रयत्न नहीं किए। यथार्थ में, इस्लाम राज्य होने के नाम को न्यायोचित बनाने के भ्रामक उद्देश्य से उन्होंने हिंदुओं पर त्रिज्या कर लगाकर उसे और चौड़ा बना दिया। जैसाकि हमने दर्शाया है कि दिल्ली सल्तनत एक इस्लामी राज्य नहीं था और यदि वह रहा भी हो, तो उसे त्रिज्या कर लगाने का कोई अधिकार नहीं था, क्योंकि प्रारंभिक इस्लामी राज्य के शासकों ने त्रिज्या अनिवार्य सैनिक सेवा से छूट प्राप्त करने की कीमत के रूप में लगाया था, जो अब लागू नहीं था। यद्यपि दिल्ली सुल्तानों द्वारा लागू किया गया त्रिज्या कर, नाम मात्र की राशि थी और नियमित रूप से प्राप्त नहीं किया जाता था। फिर भी उसने हिंदुओं के स्वाभिमान को चोट पहुंचाई। इसके अतिरिक्त यद्यपि सैद्धांतिक रूप से वे लागू नहीं थे किंतु उन पर अमल होता था। मुहम्मद तुगलक पहला शासक था, जिसने हिंदुओं के प्रति समझौतावादी नीति अपनाई। इस काल के अंत तक, विशेषकर सिकंदर लोदी और शेरशाह सूरी के अधीन, राज्य सेवाओं में धार्मिक भेदभाव लगभग समाप्त हो गये थे। हिंदुओं ने कुछ बड़े उत्तरदायी पद पाने के लिए अदालतों की भाषा परशियन सीखना प्रारंभ कर दिया था। छोटे मुसलमान राज्यों ने, जिन्होंने सल्तनत से अपने को अलग कर लिया था, जैसे बंगाल और दक्षिण के बहमनी राज्य या जो अभी तक दिल्ली के प्रभाव में नहीं आये थे जैसे कश्मीर, ने (जैनुल अबीदीन के शासन काल में) प्रारंभ से ही अधिक समानता की नीति अपनाई और हिंदुओं का प्रेम और विश्वास जीत लिया।

किंतु मुसलमान शासकों के साथ सामंजस्य स्थापित होने के बहुत पहले आम मुसलमानों के साथ उनके संबंधों में काफी सुधार हो गया था। जैसे ही उन्होंने देखा कि

मुसलमानों ने भारत को अपना घर बना लिया और वे जातिगत पूर्वाग्रहों से बहुत कुछ मुक्त हो गये हैं और उनकी धार्मिक कट्टरता तथा विजेता के रूप में उच्चता की भावना क्रमशः समाप्त हो गयी है, उन्होंने अपना विरोधी रुख शिथिल करना प्रारंभ कर दिया। अधिक मजबूत तथ्यों में से एक, जिसने इस समन्वय में योगदान किया, मुसलमान सूफियों और हिंदू संतों द्वारा भक्ति धारा की मध्यस्थता की ऐतिहासिक भूमिका थी।

भारत के अधिकांश सूफियों ने चिंतन किया और आदर्श अद्वैतवाद के रूप में दिव्य एकात्मकता की शिक्षा दी। हिंदुओं ने उनके विचारों को वेदांत दर्शन के समान पाया और स्वाभाविक रूप में उनसे आकर्षित हुए। किंतु नीची जाति के हिंदुओं के लिए सब से बड़ा आकर्षण इस्लाम के सामाजिक संगठन की ओर था, जो समानता और बंधुता पर आधारित थे, और अब भी उसमें कुछ गुण विद्यमान हैं। काफी बड़ी संख्या में हिंदुओं ने इस्लाम धर्म को अपनाया और जिन्होंने नहीं अपनाया वे मुसलमानों के प्रति अब अच्छा व्यवहार करने लगे। इस्लाम धर्म में परिवर्तित हिंदू प्रारंभ में उनके अपने लोगों द्वारा बहिष्कृत किये जाते थे परंतु बाद में क्रमशः सहन किये जाने लगे और वे बंधु भाई, जिनके साथ रक्त संबंध था तथा जिनके साथ आस्थाओं के आधार पर भाईचारे का संबंध था, उनके बीच संपर्क सूत्र काम करने लगे।

एक दूसरी बड़ी ताकत, जिसने हिंदू और मुसलमानों के बीच सामान्य धार्मिक सद्भावना का वातावरण उत्पन्न किया, भक्ति आंदोलन था। भक्ति आंदोलन को उत्तर भारत में रामानुज संप्रदाय के प्रसिद्ध संत रामानंद ने लोकप्रिय बनाया, जो संभवतः 14 वीं शताब्दी के अंत के समय से 15 वीं शताब्दी के मध्यकाल तक जीवित रहे। उन्होंने, विष्णु के अवतार रामचंद्र जी को ईश्वर के रूप में आराध्य की वस्तु बताते हुए अपने आग्रह (अपील) को और अधिक प्रभावशाली तथा व्यापक बना लिया, क्योंकि राम का आकर्षक व्यक्तित्व मनुष्यों की कल्पना के अधिक समीप था। रामानंद ने अपने संप्रदाय के द्वार सभी चार जातियों, स्त्रियों, पुरुषों और मुसलमानों के लिए भी खोल दिये। उनके शिष्य तुलसीदास जी ने, जिन्हें ईश्वरीय देन थी, अपनी जादू भरी कविताओं का प्रयोग राम भक्ति के लिए, लाखों लोगों का हृदय जीतने में किया। रामानंद के एक अन्य महान शिष्य कबीर ने (जो 15 वीं शताब्दी के पहले अर्द्ध भाग के कुछ दिनों से उसके अंत या अगली शताब्दी के प्रारंभ तक रहे) अपना स्वयं का आंदोलन प्रारंभ किया, जिसने केवल हिंदुओं को नहीं बल्कि बहुत से मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित किया।

कबीर द्वारा गाये गये प्रेम और भक्ति के गीत भारत की आम जनता हिंदू, मुसलमानों तथा अन्य की धार्मिक भावनाओं की गहनतम स्वर संगति हैं। कबीर की ईश्वर के संबंध में अवधारणा विशुद्ध रूप से रहस्यमय है। यथार्थ में उनके लिए ईश्वर एक अवधारणा नहीं बल्कि बुद्धि से परे एक अनुभूति है। जब इस अनुभूति की बौद्धिक पदों में व्याख्या करने की कोशिश की जाती है, तब परिणाम विरोधात्मक और यहां तक कि प्रतिवादात्मक होते हैं। कबीर के अनुसार प्रतिवादी अवधारणाओं में से प्रत्येक अपने

ढंग से सही होती है, किंतु प्रत्येक सत्य के केवल एक पहलू को व्यक्त करने से अपूर्ण होती है। इसलिए वेद, हिंदुत्व और इस्लाम के आध्यात्मिक आधार एक समान मानते हैं और दोनों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। किंतु उन्होंने रूढ़िवादिता तथा कर्मकांडों की अधिरचना का कड़ा विरोध किया, जिसे दोनों ने इस आधार पर बनाया। वे जाति, रंग और देश के भेदभाव की सख्ती से भर्त्सना करते हैं। भक्ति मार्ग के अन्य प्रतिपादकों के समान वे अपने विचारों को सुव्यवस्थित करने या लिखने के इच्छुक नहीं थे किंतु उन्होंने विचारों को अपने गीतों में व्यक्त किया, जो उनके जीवनकाल में गाये गये और बाद में अनेक पुस्तकों में संग्रहीत हुए।

सुप्रसिद्ध संत गुरु नानक कबीर के लगभग समकालीन थे, (जन्म 1469 ई), जिन्होंने ईश्वर की एकात्मकता की अवधारणा को आत्मसात करते हुए एक नए धार्मिक आंदोलन की नींव रखी, जो हिंदुओं के पुनर्जन्म के सिद्धांत के साथ इस्लाम की अवधारणा से घनिष्ठ रूप से संबंधित था। धर्म के आधार के रूप में रहस्यमय अनुभूतियों के साथ, उन्होंने नैतिक कार्यों पर बहुत जोर दिया। उनकी आध्यात्मिक शुद्धि तथा हिंदू-मुसलमान दोनों के नैतिक सुधार का आंदोलन बाद में एक अलग धर्म संप्रदाय के रूप में विकसित हुआ।

बंगाल में अनेक भक्ति आंदोलन चल रहे थे, जिनके अनुयायियों में हिंदू और मुसलमान दोनों थे। किंतु सबसे लोकप्रिय महान संत चैतन्य का (1485-1553) कृष्ण भक्ति का आंदोलन था। महाराष्ट्र में नामदेव (14 वीं शताब्दी के प्रारंभ में जन्मे) और तुकाराम (17 वीं शताब्दी) ने भक्ति को मात्र लोकप्रिय आंदोलन की स्थिति से ऊंचा उठाया और बुद्धिजीवियों तथा आम जनता में गहरा प्रभाव उत्पन्न किया।

इन महान पवित्र आत्माओं ने, जिनमें से कुछ का ऊपर नाम दिया है, हिंदुत्व के रहस्य तथा इस्लाम तसव्वुफ के विशुद्ध भाव को लेकर धार्मिक आंदोलन में समावेश करते हुए, जो एक ईश्वर के प्रेम और भक्ति के द्वारा संपूर्ण भारत को एक बनायेगा, धर्म के आवरण को हटाया। किंतु दुर्भाग्य से विशुद्ध रहस्यात्मक अनुभूति स्थापित करने के लिए यह पर्याप्त नहीं था। इसलिए ये धार्मिक आंदोलन शीघ्र सकारात्मक धर्म के सभी सहायकों के साथ अलग संप्रदाय में केंद्रीभूत हो गए। इस पर भी, इसका अर्थ यह नहीं कि उनके प्रयत्न व्यर्थ गए। यद्यपि वे धर्म को अनुष्ठानों और कर्मकांडों के बंधन से मुक्त नहीं कर सके किंतु धार्मिक निष्क्रियता को तोड़ा तथा उसे एक नये आंदोलन का रूप, प्रवाह, ताजगी और जीवन दिया। वे सतह पर हिंदुत्व और इस्लाम की धाराओं को नहीं मिला सके, किंतु उन्होंने यह दर्शाया कि स्रोत जो उसके आधार हैं, अवश्य कहीं नीचे मिलते हैं। उन्होंने भारत में धार्मिक सद्भावना का वातावरण निर्मित किया जो और कहीं मध्ययुग में देखने को नहीं मिला।

सौंदर्यपरक चेतना में जो भौतिक पर्यावरण से प्रभावित होती है, हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे के और निकट आये। ललित कलाओं में से दो, चित्रकला और

संगीत, इस्लाम द्वारा कड़े बंधनों में रखे गये थे और सामान्य रूप से मुसलमान देशों में वे विकसित नहीं हो सके। भारत में इस काल के समय ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों द्वारा चित्रकला को तो निरूत्साहित किया गया किंतु भारतीय संगीत ने उनके हृदय को बांध लिया। आम लोगों के अतिरिक्त वे जो साधारण रूप से हिंदू धर्म से परिवर्तित हुए थे, बहुत संख्या में मुसलमान धनाढ्य और नवाब, विशेषकर बीजापुर और जौनपुर के, संगीत के बहुत शौकीन थे। जौनपुर के सुल्तान हुसैन शारकी ने, ऐसा कहा जाता है कि, एक नयी संगीत शैली 'ख्याल' को प्रवर्तित किया जो हिंदुओं तथा मुसलमानों दोनों में समान रूप से लोकप्रिय हुई। 'ध्रुपद' शास्त्रीय हिंदू-शैली परिमार्जित रुचि के मुसलमानों द्वारा बहुत अधिक पसंद की जाती थी। बीजापुर के राजा इब्राहीम आदिल शाह संगीत के एक बड़े कद्रदान थे, जिन्होंने इस विषय पर 'नवरस' पुस्तक की रचना की। मुसलमान सूफियों ने संगीत की सराहना की। संक्षेप में संगीत एक शक्ति थी, जिसके कारण हिंदुओं और मुसलमानों के हृदय एक स्वर में ध्वनित होते थे।

शिल्पकला मुख्य क्षेत्र था, जिसमें मुसलमानों ने अपने प्रेम और सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति अंकित की और जिसने हिंदुओं और मुसलमानों के मन को एक-दूसरे से प्रभावित करने का बड़ा अवसर दिया। इस काल में, भारत के शासकों में मुसलमान राजाओं के पास सबसे अधिक साधन थे और सुंदर भवनों के निर्माण में वे अपनी इच्छाओं को संतुष्ट कर सके, किंतु सामान्य तौर से, इस कार्य के लिए हिंदू शिल्पकारों तथा कारीगरों को नियुक्त करना पड़ता था। मुसलमान राजा के मस्तिष्क में उत्पन्न भवन की धारणा, भारतीय वातावरण से अप्रभावित नहीं रह पाती थी। इसके अलावा जब वह हिंदू वास्तुकार के द्वारा डिजाइन की जाकर क्रियान्वित होती तो हिंदू मस्तिष्क के सांचे में पुनः उसकी ढलाई होती। इस तरह सम्मिश्रण की प्रक्रिया, जो कुछ बड़े रहस्यों के चेतनामय प्रयत्नों के बावजूद भी धार्मिक क्षेत्र में कार्यान्वित नहीं हो सकी, उसने लगभग अचेतन में वास्तुकला में अपना प्रभाव अंकित किया। दिल्ली सल्तनत की प्रथम शताब्दी में ही, हिंदू मुसलमान शैली की वास्तुकला अस्तित्व में आयी, जिसे 14 वीं शताब्दी में विभिन्न स्तर के सुधारों के साथ बंगाल, गुजरात और दक्षिण के स्वतंत्र मुसलमान शासकों तथा बुंदेलखंड और राजस्थान के हिंदू शासकों द्वारा अपनाया गया।

दिल्ली सुल्तानों द्वारा निर्मित करायी गयी पहले की बड़ी इमारतों जैसे अजमेर की जामा मस्जिद और दिल्ली के पास की कुबातुल इस्लाम मस्जिद में अब जो कुछ बचा है, वह इस बात को प्रमाणित करता है कि प्रारंभ से ही, इस्लाम की वास्तुकला संबंधी जो कल्पना थी उसे उपलब्ध साधनों के अंतर्गत ही कार्यरूप में परिणत करना पड़ा था। फर्ग्यूसन ने उल्लेख किया है कि अजमेर की जामा मस्जिद का डिजाइन माउंट आबू पर स्थित जैन मंदिर से लिया गया था। जहां तक कुबातुल इस्लाम मस्जिद का संबंध है वह वास्तव में मंदिर के क्षेत्र पर उसके मलबे से बनायी गयी थी। भव्य कुतुब मीनार जो इस मस्जिद का एक हिस्सा थी, सामान्य धारणा के अनुसार इस्लामी है, किंतु उसके निर्माण में

कोई भी साफ देख सकता है कि स्तंभों में गुप्त युग से तथा शिखरों की मध्यकाल से समानता है। इसके अतिरिक्त सजावट का काम सीधे उत्तर भारतीय हिंदू और जैन शैली प्रदर्शित करता है। मनुष्यों और पशुओं के प्रतिरूपों के छल्ले और टोकनियां उन स्त्रोतों के स्पष्ट प्रमाण हैं जिससे वे आये हैं और जिस प्रकार से अरबी मसौदे के साथ, समन्वयात्मक ढंग से उन्हें सुलेख की व्यूफिक शैली में मिला दिया गया है, सुंदर प्रभाव उत्पन्न किया है।

मुसलमान राज्यों ने, जिनका दिल्ली से संबंध विच्छेद हो गया था, इस शैली को स्थानीय सुधारों के साथ हिंदू शैली से समता रखते हुए, अपना लिया। विशेषकर गुजरात के भवनों में गुंबजों को छोड़कर सभी तत्व और नुकील अर्द्धचंद्र हिंदुओं के समान है। मुहाफिज खान की मस्जिद जिसे 15 वीं शताब्दी और 16 वीं शताब्दी में बनाया गया, आबू तुरब का मसोलियम, इस शैली के सुंदर उदाहरण हैं।

दिल्ली सल्तनत की अपेक्षा छोटे मुसलमान राज्यों में हिंदू और मुसलमानों के बीच विचारों और भावनाओं में बहुत अधिक समीपता और सामंजस्य था, जिसने उन्हें इस काल के अंत तक स्वतंत्र बना दिया था। ये राज्य विशेषकर बंगाल और दक्षिण के मुसलमान शक्ति केंद्र से बहुत दूर विशुद्ध रूप से हिंदू वातावरण में थे और दिल्ली के विरुद्ध दृढ़ता से अपनी स्वतंत्रता प्रभावी बनाने के लिए, उन्हें हिंदू प्रजा की सद्भावनाओं तथा समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता था। उनके अपने छोटे कार्य क्षेत्र में उनके शासक जनता के निकट थे और उनकी भावनाओं तथा इच्छाओं को समझते तथा उनका आदर करते थे। वे सामान्य रूप से स्थानीय प्रमुख व्यक्तियों को अलग करने से बचते थे और साधारण तौर से उनकी प्रशंसा करते थे। उन्होंने हिंदुओं को, मुक्त रूप से छोटे बड़े पदों पर नियुक्त कर राज्य के प्रशासन से संबद्ध किया, इसलिए वे अपनी हिंदू प्रजा से संपर्क स्थापित करने तथा उनका प्रेम जीतने में अधिक सफल रहे।

बंगाल के राजाओं में से, अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493-1518) और उनके पुत्र नसीरुद्दीन नुसरत शाह (1518-33) ने अन्य बातों के बीच, बंगाली भाषा को संरक्षण देकर और संस्कृत से अनुवाद द्वारा उसकी अभिवृद्धि कर, बहुत लोकप्रियता अर्जित की। हुसैन शाह की प्रेरणा से मालधर बसु ने भगवद्गीता का बंगाली में अनुवाद किया। नुसरत शाह के संरक्षण में महाभारत का अनुवाद किया गया। एक-दूसरे मुसलमान राजा ने क्रिध्वीदास से रामायण का अनुवाद कराया।

दक्खिनी राज्यों में मुसलमान शासकों और उनकी हिदू प्रजा के बीच संबंध और अधिक घनिष्ट तथा सद्भावनामय थे। बहमनी राज्य की नींव रखने वाले ने अपनी राजगद्दी अपने ब्राह्मण मित्र गंगू के प्रयत्न से प्राप्त की। प्रेम और कृतज्ञता में राजा ने उसे केवल वजीर नहीं बनाया बल्कि राजवंश के उपनाम के रूप में उसे अपना लिया। बहमनी के काल में ब्राह्मण तथा अन्य हिदुओं का साधारण तौर से राज्य के प्रशासन में बड़ा हिस्सा था। पांच मुसलमान राज्यों ने जो बहमनी सल्तनत के विनाश पर बने थे यह उदार नीति

जारी रखी। उसके राजा स्थानीय भाषाओं के संरक्षक थे और उनमें से कुछ मराठी भाषा और उर्दू के अच्छे कवि थे। उर्दू पश्चिम की हिंदी की बोलचाल की भाषा थी और दक्खिन में राज्य भाषा के रूप में आयी, जिसमें मुसलमान शासक और उनके उत्तर के हिंदू और मुसलमान साथी एक दूसरे से आपस में बात करते थे। यह दक्खिन में था कि स्थानीय लोगों तथा उत्तर के प्रवासियों (हिंदू और मुसलमान) के बीच एक बौद्धिक अंतर पूरा करने वाली भाषा बन गयी।

किंतु हिंदू और मुसलमानों के बीच सद्भावना उत्पन्न करने के प्रयत्नों में सबसे अधिक सफलता कश्मीर के राजा जैनुल अबीदीन को मिली। उनका नाम केवल इतिहास द्वारा पसंद और सम्मानित ही नहीं किया जाता, बल्कि कश्मीर का प्रत्येक बच्चा उन्हें किंवदंतियों से जानता है। वे सभी पहलुओं से एक महान राजा थे किंतु उनकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण यह था कि वे धार्मिक पूर्वाग्रहों से पूर्णतया मुक्त थे और हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच जरा भी भेद नहीं करते थे। जब 1427 में वे राजगद्दी पर बैठे, तब उन्होंने बड़ी संख्या में हिंदुओं, विशेषकर ब्राह्मणों को बुलाया, जिन्होंने उनके पहले के राजा सिकंदर के कठोर व्यवहार के कारण कश्मीर छोड़ दिया था उन्होंने आत्मीयता, आदर और प्रेम के माध्यम से उनका हृदय जीत लिया। राज्य की सेवाएं उनके समय के पहले भी कश्मीर में हिंदुओं के लिए खुली थीं, किंतु उन्होंने जातिगत एवं आस्थाओं के सभी भेदों को समाप्त कर दिया। उन्होंने अनेक संस्कृत पुस्तकों का परशियन में अनुवाद कराया कि जिससे मुसलमान, हिंदू धर्म और प्राचीन भारतीय संस्कृति को पढ़ सकें। वे कला और हस्तशिल्प, विशेषकर संगीत के बड़े समर्थक थे और बड़े संगीतज्ञ दूर के देशों से उनके राज दरबार में बुलाये जाते थे। जब इस काल के कश्मीर के इतिहास के संबंध में और अधिक जानकारी मिलेगी तब संभवतः ज्ञात होगा कि अकबर द्वारा संपादित राष्ट्र निर्माण के कार्य का पहला हिस्सा, अकबर के सौ वर्ष पुराने कश्मीर में जैनुल अबीदीन द्वारा छोटे पैमाने पर किये गये कार्य में निहित था।

10. तृतीय सम्मिलन : हिंदुस्तानी संस्कृति

मुगल साम्राज्य के उत्थान की अवस्था में

तुर्किस्तान के एक छोटे राज्य फरघाना के शासक की 1494 में मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र बाबर 12 वर्ष की उम्र में उसके स्थान पर शासक बन गया। बाबर दो बड़े विजयी राजाओं का वंशज था। पितृ पक्ष की ओर से वह तैमूर के वंश में था और मातृ पक्ष की ओर से चंगेजखान के वंश से संबंधित था। उनके उदाहरण से प्रेरित बाबर ने अपने शासन में प्रारंभ से ही जोखिम भरा जीवन प्रारंभ किया। सन् 1504 में अनेक उतार-चढ़ाव के बाद उसने काबुल को जीत लिया तथा उसे अपनी राजधानी बना लिया और भारत पर विजय प्राप्त करने के स्वप्न देखने लगा।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से दिल्ली सल्तनत अफगानों का आदिम राज्य बन गया था और पारस्परिक शत्रुता ने उसकी शक्ति को कमजोर बना दिया था। नाममात्र का सम्राट इब्राहिम लोदी, उसके कुलीन और राजशाही व्यक्तियों द्वारा घृणा से देखा जाता था। विदेशी आक्रमणकारी के लिए इससे अच्छा अवसर और नहीं हो सकता था। इसलिए बाबर ने भारत विजय का अपना अभियान शुरू कर दिया और 1526 में पांचवें आक्रमण में इब्राहिम लोदी को हराकर मार डाला तथा दिल्ली को अपने अधिकार में कर लिया। इस तरह भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई जो बाबर के नाती अकबर के अधीन भारतीय राष्ट्र के रूप में विकसित हुआ, जिसने एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति की पृष्ठभूमि का काम किया, जिसे हम उपयुक्त रूप से, हिंदुस्तानी संस्कृति का नाम दे सकते हैं।

हम हिंदुस्तानी संस्कृति की वृद्धि का कारण मालूम करना प्रारंभ करें, इसके पहले यह बताना जरूरी है कि मुगल, जिन्होंने 16 वीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धांश में भारत पर आक्रमण किया, तुर्क आक्रमणकारियों से, जो तीन सौ वर्ष पूर्व आये, बिल्कुल भिन्न थे। तुर्क, जिन्होंने कुतुबुद्दीन ऐबक के अधीन भारत पर विजय प्राप्त की, मात्र योद्धा थे। उन्हें प्रशासन का कोई अनुभव नहीं था और उनकी अपनी कोई सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नहीं थी। उनके सीधे स्वभाव में तुरानी, परशियन, इस्लामी, राजनैतिक और सांस्कृतिक परंपराओं तथा कुछ स्थानीय भारतीय रंगों के विविध तत्वों का समावेश हो गया था, किंतु वे इन विभिन्न रंगों के मेल से एक समन्वयात्मक आकृति तैयार करने में समर्थ नहीं थे। दूसरी

ओर चुगताई वंश में, जिसमें से बाबर आया, प्रशासन की लंबी परंपराएं थीं। इससे अधिक यह कि तुर्क और मुगलों की दृढ़ता और रुखेपन में परशियनों की सुरुचि और भव्यता तथा इस्लाम की आध्यात्मिक गहरायी और नैतिक अनुशासन रोपित कर वे मूल रूप से एक स्वस्थ, सद्‌भावनामय, सार्वलौकिक संस्कृति विकसित करने में सफल हुए। जब बाबर भारत आया तो मुगल इस्लामी संस्कृति साथ में लाया और उसमें अधिक मूल्यवान यह था कि विभिन्न मूल के सांस्कृतिक तत्वों को एक संपूर्ण समन्वयात्मक रूप में समाविष्ट कर देने का उसे अनुभव था। बाबर और उसके पुत्र हुमायूं दोनों के पास भारत में राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता उत्पन्न करने का महान कार्य करने की व्यापक दृष्टि तथा कल्पना थी, किंतु उनका शासन बहुत कम समय तक रहा। वह दृष्टि अकबर को मिली जो अपने पिता हुमायूं के स्थान पर 14 वर्ष की उम्र में राजा बना और भारत में एक नया राष्ट्रीय समाज तथा राष्ट्रीय संस्कृति बनाने के लिए 50 वर्षों तक राज्य किया।

हमने बताया है कि बंगाल, दक्खिन और कश्मीर के स्वतंत्र मुसलमान राज्यों के शासक हिंदुओं और मुसलमानों को राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से एक दूसरे के निकट ले आये थे और बाद के दिल्ली सुल्तानों, जैसे सिकंदर लोदी और शेरशाह सूरी ने हिंदुओं के प्रति अधिक उदार रुख अपनाया, किंतु यह अचेतन में था और इसलिए समय की आवश्यकता को देखते हुए, उसे अपनाने की प्रक्रिया बहुत धीमी थी। तीन सौ वर्षों में, जो दिल्ली सल्तनत की स्थापना के समय से बीत चुके थे, किसी मुसलमान शासक के पास यह अंतर्दृष्टि नहीं थी कि वह देखे कि इतिहास की सतही धारा के नीचे एक अंतर्धारा है जो सतह पर आने के लिए छटपटा रही है, यह देखे कि भारतीय जीवन की ऊपरी विविधता के पीछे एकता की आत्मा स्वयं प्रकट होने के लिए संघर्ष कर रही है। उसे एक अकबर की आवश्यकता थी, जिसमें चुगताई के समान उद्यम और जोखिम के कार्य करने, सूफियों के विशाल हृदय की सहनशीलता और दार्शनिकों की उदार तर्क शक्ति का एक साथ समावेश था, जिससे प्राचीन बेड़ियों से मुक्त भारत में साहस और शक्ति उत्पन्न हो सके तथा नये जीवन का मार्ग प्रशस्त हो।

नये भारत राष्ट्र की सबसे महत्वपूर्ण विशिष्टता, जो अकबर के द्वारा उत्पन्न की गयी, यह थी कि वह समुदाय की धार्मिकता पर नहीं, बल्कि उसी राज्य की नागरिकता पर आधारित थी। भारत में, जहां कि आधुनिक युग अंतिम रूप से 19 वीं शताब्दी के मध्य में इतनी देर से प्रारंभ हुआ, इस आधुनिक विचार का उदय होना उतना आश्चर्यजनक नहीं, जितना कि वह प्रथम दृष्टि से प्रतीत होता है। योरोप में सामाजिक जीवन को बांधने की शक्ति धर्म के स्थान पर राज्य को बनाने की आवश्यकता पुनरुत्थान के बाद उठी जिसने धार्मिक आस्थाओं की एकरूपता को समाप्त कर दिया था। यह विचार भारत में बहुत पहले उत्पन्न हुआ जबकि मुसलमान बिल्कुल भिन्न धर्म के साथ आये और जनसंख्या दो विरोधी खेमों में बंट गयी थी, जो प्रारंभ में उग्र रूप में थे। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के तुरंत बाद, सामुदायिक जीवन के आधार के रूप में राज्य को धर्म का स्थान ले लेना

चाहिए था किंतु परंपराओं की शक्ति इतनी प्रबल थी कि यह आवश्यक परिवर्तन अरूढ़वादी मुगलवंश के उत्थान के समय तक नहीं लाया जा सका। बाद वाले ने भारत की ओर बढ़ने के बहुत पहले अरब खलीफा की सत्ता को मानने की परंपरा को तोड़ दिया और भारत में अकबर के समान मौलिक विचारों वाला शासक उत्पन्न किया।

इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि अकबर, जिसने प्रारंभ में अपने को भारत के मुसलमानों का मुखिया घोषित कर दिया था, धर्म निरपेक्ष, राष्ट्रीय साम्राज्य के स्थान पर मुसलमानों के धार्मिक साम्राज्य की नींव रखने वाला कहा जाना चाहिए। किंतु भारतीय इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि अकबर का धार्मिक नेतृत्व का दावा, उलेमा की शक्ति को तोड़ने तथा अपने को दुगुना शक्तिशाली बनाने के लिए एक राजनैतिक चाल मात्र थी।

धर्म निरपेक्ष और असांप्रदायिक राज्य की अवधारणा अकबर के मस्तिष्क में बिल्कुल स्पष्ट थी, जो परशिया के शाह अब्बास सफवी को लिखे गये उनके पत्र के नीचे दिये हुए उद्धरण में प्रतिबिंबित होती है।

"विभिन्न धार्मिक समुदाय हमें ईश्वर द्वारा सौंपे गये दैवी खजाने हैं और हमें उसी तरह से उनसे प्रेम करना चाहिए। यह हमारा दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि प्रत्येक धर्म उनके आशीर्वाद से है और हमारा सच्चा प्रयत्न यह होना चाहिए कि सार्वलौकिक सहनशीलता के सदा हरे रहने वाले उद्यान से स्वर्गीय सुख का आनंद प्राप्त करें। सर्वशक्तिमान परमेश्वर सभी मनुष्यों पर बिना किसी भेदभाव के अपनी कृपा बरसाता है। राजाओं द्वारा जो ईश्वर की छाया है, यह सिद्धांत कभी भी छोड़ा नहीं जाना चाहिए।"

अबुल फजल जो अकबर का मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक था, 'आइने-अकबरी' में लिखता है—

"राजा को सभी धार्मिक मतभेदों से ऊपर रहना चाहिए और यह ध्यान देना चाहिए कि धार्मिक निर्णय कर्तव्य के मार्ग में बाधक न बनें, जिसके लिए वह प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक समुदाय के प्रति ऋणी है। उसकी आत्मीयता पूर्ण सहायता से प्रत्येक को सुख और शांति प्राप्त होनी चाहिए जिससे ईश्वर की छाया द्वारा प्रदत्त लाभ सार्वलौकिक बने।"

अकबर ने निरंतर निष्ठापूर्वक इस सिद्धांत पर कार्य किया। जैसे ही उन्होंने अपने हाथ में शासन की बागडोर ली, 1563 में यात्रा कर और त्रिज्या कर समाप्त कर दिया, और इस प्रकार हिंदू और मुसलमान प्रजा के बीच द्वेषपूर्ण भेदभाव का अंत कर दिया। किंतु इससे भी महत्वपूर्ण 1564 में प्रसारित राजाज्ञा थी कि भारत का कोई भी निवासी जो किसी भी जाति या वंश का हो, गुलाम नहीं बनाया जा सकेगा। देखा गया कि मध्यकालीन एशिया की पृष्ठभूमि के विरुद्ध, बुनियादी सिद्धांतों की यह विधिवत् घोषणा थी कि बिना किसी वर्ग या धर्म के भेदभाव के कानून के सामने राज्य ने उसके सभी

नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा समानता की पवित्रता को मान्यता दी है। इसके आगे उन्होंने नागरिक तथा सैनिक सभी राजकीय सेवाएं हिंदुओं के लिए खोल दी थीं तथा उनमें से अनेक को अपने दीवानखाने के ऊंचे पदों पर नियुक्त किया था। राजशाही परिवारों और कुछ राजपूत नरेशों के बीच वैवाहिक संबंध भाई-चारे की नयी भावना की एक प्रतीकात्मक प्रभावशाली अभिव्यक्ति थी, जो अकबर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच उत्पन्न करना चाहता था।

किंतु हमें राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय साम्राज्य की सीमाओं के बारे में स्पष्ट होना चाहिए जो अकबर की नीतियों के कारण अस्तित्व में आयीं। इस पुस्तक की भूमिका में राष्ट्रीयता के लिए न्यूनतम शर्त, देश में रहने वाले सभी वर्ग के लोगों के द्वारा एक समान संविधान को स्वीकार करना था। अकबर के समय राष्ट्रीयता का अर्थ और भी सीमित था। शासन के लिए एक समान ध्येय की अनुपस्थिति में, उन दिनों लिखित या अलिखित संविधान राजनैतिक समुदाय या राष्ट्र को जोड़ने या परस्पर बांधने वाली शक्ति, प्रजा का राजा के व्यक्तित्व या उसके वंश के साथ लगाव था। स्पष्ट है कि समस्त प्रजा की स्वामिभक्ति का लाभ केवल उस राजा को मिलता था, जो बिना किसी भेदभाव के सभी के लिए अच्छा और न्यायप्रिय होता था और यह स्वामिभक्ति केवल उन उत्तराधिकारियों के प्रति दर्शायी जाती थी जो इस सामान्य नीति का पालन करते थे। उस समय समान राष्ट्रीयता की भावना उतनी गहरी और स्थायी नहीं थी जैसाकि इन दिनों, स्थायी संविधान की स्थिति में है, जिसमें लोगों की सामान्य भावना अभिव्यक्त होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर पूरी तरह सचेत था कि राज्य की एकता के लिए उसके द्वारा जो नींव डाली गयी है वह इस बात पर निर्भर करती है कि आम जनता का राजा के व्यक्तित्व के प्रति कितना लगाव है। इसीलिए अकबर ने जनता से सीधे संपर्क कर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया, जैसाकि किसी मुसलमान राजा ने कभी सोचा भी नहीं था। उनके द्वारा महल की बालकनी पर बैठकर दर्शन देने के तरीके ने प्राचीन भारतीय राजाओं की स्मृति को ताजा कर दिया और इस प्रकार उन्होंने अपनी प्रजा का हृदय जीत लिया।

प्राचीन भारतीय साम्राज्य की अन्य महत्वपूर्ण परंपराएं अकबर के अधीन मुगल साम्राज्य द्वारा पुनर्जीवित की गयीं। जन-कल्याण और नैतिक उद्वार के कार्य जिन्हें दिल्ली सल्तनत ने मुसलमान समाज के सीमित क्षेत्र में यंत्रवत् चलाया था अब सुव्यवस्थित ढंग से चलाये जाने लगे और उसका कार्यक्षेत्र बढ़ा दिया गया जिससे कि नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के उसमें लगाया जा सके। हिंदू पंडितों और साधुओं को राज्य की ओर से मुसलमान उलेमाओं तथा फगराओं (विद्वान तथा धर्म वैज्ञानिकों) के समान समर्थन दिया गया और अनेक मामलों में मस्जिदों के समान मंदिरों को मुगल सम्राटों द्वारा अनुदान दिया गया। अकबर ने मद्यपान, जुआ और वेश्यावृति पर सभी वर्ग के लोगों के लिए समान रूप से बंधन लगाया। धर्म में हस्तक्षेप के आरोप का जोखिम लेते हुए उन्होंने

कुछ विशेष हिंदू रीति रिवाजों जैसे सती प्रथा (विधवाओं को जीवित जलाना) को बंद करा दिया।

अकबर के बड़े नाती औरंगजेब ने इस धर्म निरपेक्ष मुगल राज्य को मुसलमान धार्मिक राज्य में बदलने का असफल प्रयास किया। परिणामस्वरूप उसकी नींव ही हिल गयी और उसकी मृत्यु के पश्चात महान साम्राज्य जो 100 वर्षों से था, की प्रतिछाया मात्र रह गयी।

मुगल साम्राज्य, जो सीमित अर्थों में एक राष्ट्रीय राज्य था, के चारों ओर एक राष्ट्रीय संस्कृति निर्मित करने का कार्य भी अकबर के द्वारा प्रारंभ किया गया था तथा औरंगजेब के शासनकाल में रुकावटों के साथ इस काल के अंत समय तक चलता रहा। जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा कि दिल्ली सल्तनत के प्रारंभिक समय में हिंदू और मुसलमानों के बीच की चौड़ी खाई, अनेक शक्तियों द्वारा पाट दी गयी थी, जिसमें हिंदू भक्तों तथा मुसलमान सूफियों द्वारा उत्पन्न प्रेम और सद्भावना के विचार शामिल थे और दोनों समुदायों ने एक-दूसरे के सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया था, विशेषकर सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में। मुगल-इस्लामी या ईरानी-इस्लामी संस्कृति हिंदू संस्कृति के साथ समन्वित किये जाने की प्रक्रिया, जो आपसे आप चल रही थी, अकबर के सजग तथा कुछ अंशों में नियोजित प्रयत्नों से गतिशील हो गयी थी। इसके परिणामस्वरूप राज दरबार में केंद्रित समान संस्कृति की स्थिति उत्पन्न हुई, किंतु संपूर्ण मुगल शासन से दूर दूर तक फैल गयी।

समान संस्कृति की जड़ हमेशा समान भाषा होती है। तेरहवीं शताब्दी में दिल्ली और उसके आसपास बोली जाने वाली पश्चिमी हिंदी भाषा के साथ परशियन के मिश्रण ने, हिंदवी, हिंदी या हिंदुस्तानी के रूप में जानी जाने वाली राष्ट्र भाषा को जन्म दिया जो बाद में उर्दू कही जाने लगी। अब यह हिंदू-मुसलमानों के बीच परस्पर संपर्क के माध्यम के रूप में कार्य करने लगी, किंतु फिर भी दक्खिन के अलावा उसे कहीं भी साहित्यिक भाषा का दर्जा प्राप्त नहीं हुआ था। उत्तर भारत में परशियन, न्यायालय तथा मुसलमानों के बीच साहित्यिक अभिव्यक्ति और संभाषण की भाषा बन गयी थी। सरकारी सेवाओं में संलग्न हिंदुओं ने सिकंदर लोदी के शासनकाल में परशियन सीखना प्रारंभ कर दिया था, चूंकि राज्य के लेखे अब भी हिंदी में लिखे जाते थे, हिंदू कर्मचारियों के लिए परशियन सीखना अनिवार्य नहीं था। बाद में टोडरमल ने जो अकबर का वित्त मंत्री था आदेश प्रसारित किया कि पूरे साम्राज्य में सभी लेखे परशियन में लिखे जायेंगे तथा सभी पत्र व्यवहार उसी भाषा में होंगे। इसके परिणामस्वरूप राज्य की सेवाओं में संलग्न सभी हिंदुओं ने, जिनकी संख्या अब बहुत अधिक थी, परशियन सीखी। इसके अतिरिक्त हिंदू कुलीन व्यक्तियों और राजपूत सरदार, जिनका खुले राज दरबार तथा निजी सभाओं में प्रतिदिन सम्राट से संपर्क होता था और जो उनके साथ शिकारी दल तथा सैनिक खोजी दल में जाते थे, ने यह महसूस किया कि परशियन का उपयुक्त ज्ञान आवश्यक है। इस

तरह सम्राट और उनकी हिंदू प्रजा के बीच बढ़ते हुए संपर्क के कारण परशियन भाषा हिंदुओं के बीच और अधिक लोकप्रिय बन गयी, किंतु परशियन का हिंदुओं और मुसलमानों की आम भाषा बनने का सीधा और सबसे प्रभावशाली कारण यह था कि शायद भारत के इतिहास में पहली बार अकबर ने बड़ी संख्या में शासकीय स्कूल खोले, जिनमें हिंदू और मुसलमान के बच्चों को एक साथ परशियन भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाता था।

राज्य के सभी नागरिकों के लिए इस समान शिक्षा पद्धति ने केवल भाषा का नहीं बल्कि एक से विचारों का एक समुदाय उत्पन्न करने में सहायता की। धार्मिक स्कूलों के अतिरिक्त जो सांप्रदायिक थे, सभी धर्म निरपेक्ष स्कूलों में बिना जाति तथा धार्मिक भेदभाव के सभी लोगों के लिए एक सा पाठ्यक्रम था। अबुल फजल के अनुसार इस पाठ्यक्रम में परशियन साहित्य, निबंध और सुलेख सामान्य विषयों के रूप में तथा श्रेणियों और उपखंडों में नीतिशास्त्र, अंक गणित और कार्यालयीन व्यवस्था, कृषि क्षेत्र मिति, रेखागणित, ज्योतिषशास्त्र, गृह अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, तर्कशास्त्र, भौतिकशास्त्र, गणितशास्त्र और इतिहास विषय शामिल थे। विशुद्ध धर्म निरपेक्ष पाठ्यक्रम के साथ समान स्कूल स्थापित करने की नीति विशेष तौर से राष्ट्रीय एकता के लिए अनुकूल बौद्धिक वातावरण बनाने की दृष्टि से तैयार की गयी थी।

इस शिक्षा नीति ने सांस्कृतिक समझ को उच्च स्तर तक बढ़ाया। हिंदू और मुसलमान विद्वान, उच्च स्तरीय कृतियां संस्कृत से परशियन में अनुवाद करने तथा प्राचीन एवं समकालीन इतिहास लिखने को प्रोत्साहित हुए।

अनुवाद कार्य प्रारंभ करने के लिए पहले अथर्ववेद और रामायण को, एक हिंदू पंडित के सहयोग से मुल्ला अब्दुल कदीर बदावनी द्वारा, परशियन में प्रस्तुत किया गया। बाद में रामायण के अनेक अनुवाद गद्य और पद्य में हिंदुओं द्वारा किये गये। महाभारत का अनुवाद मुसलमान और हिंदू विद्वानों के एक बोर्ड द्वारा किया गया, जिसके मुल्ला अब्दुल कदीर एक सदस्य थे। महाकवि फैजी ने गणितशास्त्र पर शास्त्रीय कृति लीलावती को परशियन में प्रस्तुत किया। गणितशास्त्र और प्रकृति विज्ञान पर अन्य संस्कृत की पुस्तकें, हिंदू अनुवादकों द्वारा परशियन में प्रस्तुत की गयीं। शाहजहां के शासनकाल में राजकुमार दारा शिकोह ने, जिनका हिंदू दर्शन और रहस्यवाद के प्रति भावनात्मक झुकाव था, हिंदू विचारों, उपनिषद्, भगवद्गीता और योग वशिष्ठ के मूल्यवान खजाने मुसलमान पाठकों के लिए परशियन में उपलब्ध किए और स्वयं ने 'मजमा-उल-बहरीन' (दो महासागरों का मिलन स्थल) पुस्तक की रचना की, जो हिंदू और मुसलमान रहस्यात्मक दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन है।

इतिहास में वृंदावनदास, सुजान राय, चंद्रभान ब्रह्म, भीमसेन और ईश्वरदास हिंदू लेखकों की कृतियां, अबुल फजल, अब्दुल कदीर बदावनी, खफी खान और उस समय के अन्य सुप्रसिद्ध मुसलमान इतिहासकारों की रचनाओं से किसी तरह कम महत्वपूर्ण नहीं

हैं। इन पुस्तकों के अध्ययन से प्रकट होता है कि व्यक्तिगत संवेदन वैशिष्ट्य के अलावा हिंदू और मुसलमान इतिहासकारों के दृष्टिकोण तथा प्रस्तुतिकरण के तरीके में उल्लेख-नीय समानता है। मुगल साम्राज्य के प्रति उनका एक समान झुकाव था जो पूर्णतया व्यक्तिगत लाभ पर आधारित नहीं था। उन्होंने समय का सही और वस्तुनिष्ठ चित्र प्रस्तुत करने का ईमानदारी से प्रयत्न किया। उनकी रचनाएं मुख्य चरित्र के रूप में राजा पर केंद्रित थीं, किंतु कहीं कहीं सामाजिक स्थितियों तथा सांस्कृतिक जीवन को थोड़ा स्पर्श किया है।

परशियन काव्य को मुसलमानों के साथ साथ हिंदुओं ने भी अपनाया था। मिर्जा मनोहर तौसनी, चंद्रभान ब्रह्म, बनवारीलाल वली यद्यपि महान् विद्वान फैजी, उर्फी, नजीरी, कलीम और कुदसी की श्रेणी में नहीं आते किंतु अनेक समकालीन मुसलमान कवियों से अच्छे कवि थे, जो परशियन को अपनी मातृभाषा कहने का दावा कर सकते थे। चंद्रभान ब्रह्म की श्रेष्ठ कविताएं एक अनुपम उदाहरण हैं कि किस प्रकार एक हिंदू ने अल्प समय में आश्चर्यजनक रूप में केवल परशियन भाषा को ही नहीं बल्कि परशियन काव्य की आत्मा को अपना बना लिया। यह भारत में परशियन कविता के परिवर्तन का समय था। खुसरो की मनोहर लालित्यपूर्ण सादगी क्रमशः उर्फी की कृतियों में प्रतिबिंबित भावनाओं की स्वच्छंद गहराइयों तथा कल्पनाओं की सीधी उड़ानों को स्थान दे रही थीं। हिंदू कवियों की कविताएं भी स्वच्छंदतावाद के इस उदय को प्रकट करती हैं।

जहां तक साहित्यिक कला के रूप में पत्र लेखन का संबंध है, वह हिंदू लेखकों की निधि बन गयी थी। अबुल फजल और आलमगीर (औरंगजेब) जो परशियन गद्य के पंडित माने जाते थे, को छोड़कर, किसी भी मुसलमान लेखक की साहित्य की इस विशिष्ट विधा में, मुंशी हरकरन, चंद्रभान ब्रह्म, मुंशी माधोराम, मुंशी निहालचंद और मुंशी अवधेराज से तुलना नहीं का जा सकती। उस समय साहित्यिक पत्र लेखक की दो शैलियां प्रचलित थीं। आलमगीर की सीधी सादी और प्रभावकारी शैली तथा मुगलों के प्रारंभिक बहादुरी पूर्ण जीवन के संस्मरण और राज दरबार की विविधता और शान शौकत प्रतिबिंबित करने वाली अबुल फजल की प्रभावी शैक्षिक आडंबरपूर्ण शैली। हिंदू लेखकों में चंद्रभान पहली शैली के प्रवर्तक थे और माधवराम दूसरी शैली के। जहां तक भारत में परशियन में पत्र लेखन की पद्धति के प्रचलन का प्रश्न था, माधोराम और चंद्रभान के प्रकाशित संग्रह हिंदू और मुसलमान लेखकों के लिए आदर्श उदाहरण का कार्य करते थे। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से अकबर ने परशियन को राज दरबार तथा राज्य की आम साहित्य की भाषा बनाया, किंतु उन्होंने स्थानीय ब्रजभाषा, अवधी आदि बोलियों के विकास की उपेक्षा नहीं की, जिन्हें एक वर्ग विशेष में, हिंदी के रूप में जाना जाता था। अन्य स्थानीय भाषाओं के समान, अकबर के समय से पहले इनका विकास होने लगा था। अवधी ने शेरशाह के शासनकाल में पद्मावत के रचनाकार महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी को उत्पन्न किया। अकबर के अधीन, राष्ट्रीय चेतना से उत्पन्न ऊर्जा ने हिंदी की

वृद्धि में सहायता की जिससे हिंदू और मुसलमानों के संयुक्त प्रयास से बहुत उन्नति हुई। सूरदास, कृष्ण भक्ति के प्रसिद्ध उपासक, उच्च श्रेणी के कवि थे। श्री कृष्ण के प्रति प्रेम और भक्ति की भावना से प्रेरित उनके गीतों का संग्रह सूरसागर के नाम से जाना जाता है। अब्दुल रहीम खान खाना, अकबर के राज दरबार के स्तंभ, स्वयं एक अच्छे हिंदी कवि और हिंदी कविताओं के बड़े समर्थक थे। अकबर के राज दरबार के अन्य हिंदी कवि थे, गंगा, नरहरि तथा सम्राट के निकट के मित्र बीरबल। कहा जाता है कि अकबर ने स्वयं हिंदी में कविताओं की रचना की। बाद में केशवदास, बिहारी, देव और रसखान (मुस्लिम) हिंदी कविता को बड़ी ऊंचाई तक ले गये। भूषण ने शिवाजी तथा छत्रसाल के यश को अमर करने के लिए वीर काव्य की रचना की।

वास्तुकला में हिंदू मुसलमान तत्वों के समावेश की प्रक्रिया दिल्ली सल्तनत के प्रारंभिक समय में पहले ही प्रारंभ हो चुकी थी, किंतु उसके पूर्ण समन्वयात्मक शैली में निष्पादन के लिए मुगल सम्राटों के मस्तिष्क की मौलिकता और व्यापक दृष्टि की आवश्यकता थी। बाबर और हुमायूं अपने साथ वास्तुकला में एक विशुद्ध परशियन रुचि तथा साथ में परशियन वास्तुकार लाये थे। उनके समय की कुछ इमारतें, जो आज भी विद्यमान हैं, जैसे पानीपत और सम्भल में बाबर द्वारा निर्मित करायी गयी मस्जिदें और फतेहाबाद, हिसार में हुमायूं द्वारा बनायी गयीं मस्जिदें परशिया की मध्यकालीन ईमारतों की शैली में हैं। इसी प्रकार अकबर के प्रारंभिक शासन काल की वास्तुकला की सबसे अच्छी उपलब्धि दिल्ली में हुमायूं का मकबरा है, जिसका डिजाइन परशियन वास्तुकार मिर्जा इनायतुल्ला द्वारा तैयार किया गया था। किंतु बाद में अकबर ने राजनैतिक और बौद्धिक क्षेत्र के समान इस क्षेत्र में भी तुर्की-परशियन मुसलमान अवधारणाओं का हिंदू-भारतीय के साथ संश्लेषण करने का प्रयत्न किया और इस प्रकार मन को शांति तथा आंखों को आनंद देने वाली सुंदर मुगल शैली को जन्म दिया। फतेहपुर सीकरी में जामा मस्जिद का सामान्य डिजाइन इसफाहन से लिया गया था। उसका प्रभावशाली आकर्षक दरवाजा मध्यवर्ती परशिया की लालित्यमय सादगी की विशिष्टता लिए हुए है। किंतु उसके गुंबज जैन शैली का प्रभाव प्रकट करते हैं। ऐसा ही आबू पर्वत पर स्थित मस्जिद के गुंबज दर्शाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जहांगीर के समय में हिंदू प्रभाव बढ़ा था। सिकंदरा में अकबर का मकबरा दर्शाता है कि मुसलमान शैली के मेहराब और गुंबजों के रहते हुए भी उसमें बुद्ध विहारों का सामान्य प्रारूप या महाबलीपुरम् के रथों का भी समावेश है।

शाहजहां के शासनकाल में मुगल वास्तुकला को पूर्णता की ऊंचाई तक ले जाने वाले वास्तुकार परशियन तथा अन्य देशों से लाये जाते थे, जिसके कारण विदेशी प्रभाव की एक नयी लहर स्थानीय हिंदू शैली को कमजोर बनाने लगी थी। किंतु तब तक बाद की शैली जिसे मुगल शैली कहा जाता है, उसमें इतनी पूर्णता से समाहित हो गयी थी कि इस संपूर्ण अवयव को उसके अंगों में बांटना असंभव हो गया था। शाहजहां द्वारा लिया

गया एक क्रांतिकारी कदम बड़े पैमाने पर संगमरमर का उपयोग प्रारंभ किया जाना था। इस मुलायम और सुंदर पत्थर पर काम करने के लिए बड़ी सावधानी, संयम, कुशलता और कोमलता की आवश्यकता थी, जिससे न केवल विस्तृत कार्य बल्कि सामान्य भवनों की डिजाइनों को काफी परिवर्तित करना पड़ा। संगमरमर की पूरी चमक के गुण के लाभ के लिए यह आवश्यक था कि नक्काशी का काम सुंदर और सूक्ष्म हो तथा बड़ी सीमांत सतहें खाली छोड़ दी जायें।

अलंकारिक प्रभाव अधिकतर बहुरंगी पत्थरों के मोजाइक पर सुंदर डिजाइनों के द्वारा उत्पन्न किया जाता था। मेहराबों को अब विभिन्न रेखा गणितीय आकारों में काटा जा सकता था, और खंभे नये तथा सूक्ष्म डिजाइनों में आकर्षक बनाये जा सकते थे। गुंबज संकरे तथा उत्कृष्ट ग्रीवा वाले एक समान बनाये जा सकते थे। इमारतों की डिजाइनों तथा अलंकरण के कार्य, दोनों में नये कोमल और सुंदर प्रभाव लोचदार रेखाओं के साथ उत्पन्न किये जाते थे। संक्षेप में संगमरमर के प्रयोग ने वास्तुकारों के काम के लिए यह संभव बना दिया कि वे लावण्य और सूक्ष्मता में चित्रकारों से बराबरी कर सकें और मुगल वास्तुकला को नये गुण, जो न परशियन और न प्राचीन भारतीय शैली के पास कभी थे, प्राप्त हो गये। परशियन के साथ भारतीय मस्तिष्क के सहयोग तथा भारतीय पदार्थों के साथ साहसिक प्रयोगों ने एक नयी शैली को जन्म दिया, जिसमें विभिन्न तत्व पूर्ण समन्वय के साथ ऐसे मिले हुए हैं कि अब भारतीय और विदेशियों के रूप में उनका विश्लेषण यदि संभव भी हो तो, कोई अर्थ नहीं रखता। संगमरमर में स्वप्न, जिसे ताजमहल के नाम से जाना जाता है, चाहे भले ही उसे शिराज या इटली से लाये गये वास्तुकार द्वारा बनाया गया हो, किंतु अब वह एक भारतीय राजा के मन की धारणा, भारतीय संगमरमर पर बना एक भारतीय प्रेम का स्मारक तथा भारतीय आत्मा की पवित्रता, शांति और करुणा का प्रतीक मात्र रह गया।

इस काल में, चित्रकला ने भी प्राचीन भारतीय शैली के साथ तुर्की-ईरानी शैली मिलाकर एक नयी शैली को विकसित किया, जिसमें दोनों का आकर्षण निहित था। जैसाकि पूर्व में बताया गया दिल्ली सल्तनत के समय धार्मिक बंधनों के कारण चित्रकला मुसलमान राज दरबारों में नहीं पनप सकी, किंतु हिंदू चित्रकारों द्वारा कला को विकसित किया गया तथा पुस्तकों में चित्रांकन के लिए अधिकतर उपयोग किया गया। अजंता की परंपराएं विभिन्न मध्यकालीन भारतीय शैलियों को भारत में स्थान देते हुए, समय के साथ बदल गयी थीं, जैसे कि राजपूत शैली जो राजपूत राज दरबारों के संरक्षण में बहुत विकसित हुई। भारतीय चित्रकारों के विषय अक्सर हिंदू पौराणिक महाकाव्यों, रामायण, महाभारत की कहानियों, श्री कृष्ण से संबंधित कल्पित कथाओं, संगीत के रागों की अभिव्यक्ति (राग-रागिनी) से लिये जाते थे, किंतु आम जनता के जीवन से उनका बहुत कम संबंध रहता था। उनके चित्रांकन प्रकृति को विभिन्न चित्तवृतियों तथा रंगों में सादे किंतु प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते थे। मिश्रित तथा अमूर्त मूल भावों से बचा जाता था।

तैमूर के वंशज भारत आने के पूर्व भी चित्रकला के बड़े प्रेमी थे। यह उनके संरक्षण में ही था कि परशियन कला क्रमशः विकसित हुई तथा हेरत स्कूल की चित्रकला महान कलाकार विहजाद की कला के रूप में पूर्णता पर पहुंच गयी। विहजाद के शिष्य मीर सैयद अली और ख्वाजा अब्दुल समद शिराजो हुमायूं के साथ भारत आये। उनके चित्र कुछ भारतीय प्रभाव दर्शाते हैं किंतु तुर्की-ईरानी तत्व प्रमुख रूप से प्रभावी हैं। अकबर जो हिंदू शैली का यथार्थवादी और प्रभावोत्पादक सादगी के प्रशंसक थे, ने एक नयी शैली उत्पन्न करनी चाही जिसमें हिंदू शैली की सादगी और परशियन परंपरा की सूक्ष्मता का समावेश हो। इसलिए उन्होंने अपने राज दरबार में चित्रकला अकादमी के ऐसे अंग की स्थापना की, जहां भारतीय और परशियन कलाकार एक साथ कार्य करते थे। परशियन गुरु सैयद अली तथा अब्दुल समद ने अपने युवा शिष्यों को, जो अधिकतर हिंदू थे, परशियन रेखांकन और रंग संयोजन की बारीकियों की ओर प्रेरित किया। सैद्धांतिक शिक्षा के लिए एक ग्रंथालय की स्थापना की गयी थी, जिसमें कला संबंधी पुस्तकों तथा प्राचीन कलाकारों की उत्कृष्ट कृतियों का संग्रह था। अकबर स्वयं अक्सर अकादमी में काम करते हुए कलाकारों को देखने जाते थे। इस स्कूल में प्रशिक्षित कलाकारों में सबसे अधिक प्रसिद्ध दसवंत फारुख बेग, बसावन तथा सनवाल थे। वे धार्मिक पुस्तकों में नहीं बल्कि धर्म निरपेक्ष पुस्तकों में चित्रांकन करने की प्राचीन भारतीय परंपरा का पालन करते थे। प्रारंभ में उनकी शैली परशियन ढंग की थी—अलंकृत, विस्तृत एवं रुक्ष, किंतु क्रमशः उसमें भारतीय शैली की प्रवाह और शक्ति का समावेश हुआ, जिससे अकबर के शासनकाल के अंत और जहांगीर के प्रारंभ तक एक स्वतंत्र मुगल शैली का विकास हो गया था।

जहांगीर कला के केवल संरक्षक ही नहीं बल्कि स्वयं एक कलाकार थे और उनके समय में मुगल चित्रकला अपने चरमबिंदु पर पहुंच गयी थी। फारुख बेग, नादिर मुहम्मद मुराद, अब्दुल हसन, मंसूर, बिशनदास, मनोहर और दौलत इस काल के अग्रणी कलाकार थे। उनका कार्यक्षेत्र अब प्राचीन कथाओं तथा किंवदंतियों के चित्रांकन से बहुत आगे बढ़ गया था और उसमें वास्तविक युद्ध, शिकार, प्रेम, राजाओं के राज दरबार, सूफी, मठ, मनुष्यों, पशुओं, वनस्पतियों और पुष्पों के चित्रों आदि का चित्रांकन होने लगा था। संक्षेप में प्रकृति और मानव जीवन के सभी पहलू, जिन पर सम्राट और उनके अभिजात वर्गों के लोगों की दिलचस्पी थी, चित्रांकन के क्षेत्र में सम्मिलित कर लिए गये थे।

शाहजहां की वास्तुकला की अपेक्षा चित्रकला में कम दिलचस्पी थी, तब भी कुछ नरेश और अभिजात वर्ग के लोग कला को संरक्षण देते थे। यद्यपि चित्रकला ने अपनी लोकप्रियता खोयी नहीं थी, तब भी अन्य कलाओं से पहले इसमें ह्रास के संकेत मिलना प्रारंभ हो गये थे, जो मुख्य रूप से संपत्ति के आधिक्य तथा शान शौकत के कारण न बचे जा सकने योग्य परिणाम थे। गहरे कलात्मक गुणों की अपेक्षा दिखावटी अलंकरण तथा सजावट पर जोर दिया जाने लगा था। अच्छी व्यापक सजावट से भरपूर चौड़े बार्डर के

बिना कोई भी चित्रांकन पूर्ण नहीं माना जाता था। अनूप चित्र, चित्र मानी, फकीरुल्ला और हाशिम अली शाहजहां के समय के श्रेष्ठ कलाकार थे। किंतु उनमें से कोई भी मंसूर, अब्दुल हसन और मनोहर की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। औरंगजेब की धार्मिक संकीर्णता चित्रकला के लिए बहुत निराशाजनक सिद्ध हुई और उसके बाद मुगल साम्राज्य के पतन के साथ उसका भी ह्रास हो गया।

जहां तक संगीत का संबंध है, हिंदू और मुसलमान के बीच भावना और रुचि का पूर्ण सामंजस्य दिल्ली सल्तनत के काल में छोटे स्वतंत्र राज्यों की राज सभाओं यथा सूफियों के मठों में पहले ही विकसित हो चुका था। इस तरह मुगलों को एक समान या राष्ट्रीय संगीतकला का सुसंस्कृत आधार मिला तथा अपने उदार संरक्षण से उसका पोषण करने और बढ़ाने के सिवा, उन्हें कुछ नहीं करने को था। संगीत एक ऐसा माध्यम है, जिसमें गहरी मानवीय संवेदनाएं और अनुभूतियां बिना बौद्धिक अवधारणाओं के अभिव्यक्त होती हैं। समवेत संगीतमय भावनाएं जो सभी जाति और धर्म के भारतीयों के बीच स्पष्ट थीं यह प्रदर्शित करती थीं कि अब भारतवासियों के हृदयों में एकात्मकता ध्वनित हो रही है और समान संस्कृति के स्थायी आधार में बुनियादी सांस्कृतिक चेतना की एकात्मकता आना निश्चित है।

जहां तक सामान्य सामाजिक जीवन में रीति रिवाज और व्यवहार, भोजन, वस्त्र, आनंद और मनोरंजन, जो इस काल में विकसित हुए, में एकरूपता का संबंध है, वह अब लाखों हिंदू-मुसलमान परिवारों के दैनिक जीवन में इतना स्पष्ट दिखता है कि विषय वस्तु को अधिक विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है।

11. हिंदुस्तानी संस्कृति

राजनैतिक दृष्टि से जब मुगल साम्राज्य औरंगजेब के शासनकाल के प्रथम अर्द्धांश में महिमा के शिखर पर पहुंच गया, तब पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। दक्खिन में औरंगजेब के विजय के युद्धों ने खजाने को खाली कर दिया। उनकी संकुचित विचारों वाली नीति ने राजपूतों को दुश्मन बना दिया, जो अकबर के समय से साम्राज्य के बहुत निष्ठावान दोस्त थे और तीन अन्य विरोधी शक्तियां खड़ी कर दीं—सिख, मराठा और जाट। जैसे ही औरंगजेब का शक्तिशाली व्यक्तित्व अस्तित्व से हट गया इन चार समुदायों ने विशेषकर मराठों ने साम्राज्य की नींव को एक कोने से दूसरे कोने तक हिला दिया। मुगल राज दरबार में तुरानी, परशियन और अफगान दलों में परस्पर विरोध ने केंद्रीय शासन को इस सीमा तक कमजोर बना दिया कि प्रांतीय गवर्नर करीब करीब स्वतंत्र हो गये। योरोप के व्यापारियों ने विशेषकर लंदन की ईस्ट इंडिया कंपनी, जो भारत में 16 वीं तथा 17 वीं शताब्दी में आयी थी, ने भारत में बड़े क्षेत्र कुछ अंशों में विजय के द्वारा और आंशिक रूप से राजनैतिक कूटनीति के द्वारा प्राप्त करने के लिए देश में व्याप्त असंतोष का दोहन किया और भारत की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी प्रारंभ कर दी।

स्वाभाविक रूप से, हिंदुस्तानी संस्कृति का ह्रास प्रारंभ होने के चिह्न प्रकट होने लगे, किंतु उसने भारत की आम संस्कृति का अपना स्थान बनाये रखा और यहां तक कि अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ा लिया। फिर भी देश के सांस्कृतिक जीवन में एक नये तथ्य का उदय हुआ। योरोपवासियों, विशेषकर ब्रिटिश व्यापारियों के माध्यम से पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव, जो पहले अदृश्य रहा, 19 वीं शताब्दी के दूसरे अर्द्धांश में अपने को प्रकट करना प्रारंभ कर दिया।

हिंदुस्तानी संस्कृति जो अकबर और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में विकसित हुई, आवश्यक रूप से मुगल साम्राज्य से संबद्ध थी, किंतु उसका ह्रास साम्राज्य के पतन की अपेक्षा धीमा था और राजनैतिक फूट के समय भी वह विभिन्न सांस्कृतिक समुदायों और क्षेत्रों के बीच संपर्क सूत्र बना रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने अपनी ताजगी, प्रभाव और शक्ति को खो दिया था तथा निष्क्रियता या ह्रास के चिह्न प्रकट करना प्रारंभ कर दिया था, किंतु उसका प्रभाव क्षेत्र व्यापक बन गया। उसने नये केंद्रों जैसे लखनऊ, हैदराबाद और मुर्शिदाबाद से कार्य किया और संपूर्ण भारत में बड़ी संख्या के

लोगों में आम संस्कृति के रूप में तब तक कार्य किया, जब तक के 1857 के महाप्रलय ने अंत लाने का धक्का नहीं दिया, जिससे वह कभी राहत नहीं पा सका।

परशियन भाषा, जो उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम थी, इस काल में नये क्षेत्रों में फैली। केवल समाप्त हुए मुगल उपनिवेशों में ही नहीं बल्कि प्रायः दक्खिन, बंगाल और अवध के उन स्वतंत्र राज्यों में परशियन शासकीय कार्यालयों में उपयोग की जाती थी, जहां बड़ी संख्या में कर्मचारी हिंदू थे। दारुल ईसा के रूप में जाना जाने वाला विभाग, जिसमें विशेष साहित्यिक कौशल की आवश्यकता थी, उसमें प्रमुख रूप से इतने अधिक हिंदू नियुक्त थे कि 18 वीं शताब्दी में, मुंशी शब्द को हिंदू का विशेष अर्थ प्राप्त हो गया था। मुंशी वे जो अच्छी परशियन लिख सकते थे। यहां तक कि हिंदू राज्यों में, जैसे कि मराठा साम्राज्य, जिसने अपने प्रशासन को मुगल साम्राज्य के समान बनाया था, शासकीय भाषा परशियन थी। ईस्ट इंडिया कंपनी में 1819 तक शासकीय भाषा परशियन रही, जबकि यह घोषणा हो गयी कि उसका स्थान अंग्रेजी ले लेगी। किंतु व्यवहार में उस तारीख के काफी समय बाद तक शासकीय कार्य परशियन में होता रहा। साहित्यिक और वैज्ञानिक कार्यों के लिए शिक्षित हिंदू और मुस्लिम परशियन का उपयोग करते थे और साधारण पत्र व्यवहार भी उसी भाषा में किया जाता था।

साहित्यिक और वैज्ञानिक उन्नति की दृष्टि से वह निराशाजनक समय था। यद्यपि लिखी गयी पुस्तकों की संख्या बीते हुए काल से किसी प्रकार कम नहीं थी, किंतु उनका सामान्य स्तर बहुत नीचा था। रचनात्मक अंतः प्रेरणा तथा निरीक्षण की भावना प्रायः समाप्त हो चुकी थी। विद्वानों का सबसे ऊंचा ध्येय अब अपने पीछे के लोगों के कदमों पर चलना तथा जो वे पीछे छोड़ गये थे उसे सुरक्षित रखना था। उनका मुख्य कार्य शब्दकोष या कवियों का प्रयोजनीय जीवन और कविताओं का संग्रह संकलित करना था। बाद के कार्य में हिंदू लेखक बराबरी पर थे और पहले के काम में मुसलमान लेखकों का बड़ा हिस्सा था। संकलनकर्ताओं में सबसे अधिक विख्यात थे गुलाम अली आजाद और लक्ष्मीनारायण शफीक तथा कोषकारों में टेकचंद, बहारे आजम के संकलनकर्ता, मिरातुल इश्तिला के आनंद राम मुखलिस और सिराज-उल-लुघात के सिराजुद्दीन खान आरजू।

इस काल में बड़ी संख्या में जो साहित्यिक काव्य पत्रों के संग्रह परशियन में तैयार हुए, वे प्रायः मुंशियों द्वारा लिखे गये थे। परशियन जो कभी विदेशी भाषा थी उस पर उनकी अधिकारपूर्ण क्षमता आश्चर्य प्रकट करती है। उसमें ईरानी मुहावरों से हटकर प्रयोग किये गये, जो स्वाभाविक और क्षम्य हैं। वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि ब्रह्म या आलमगीर की विशुद्ध सादी सजीव शब्द योजना के स्थान पर, माधोराम की कृत्रिम आडंबरपूर्ण शैली का उपयोग किया गया है।

इतिहास और आत्मकथाएं मात्रा एवं गुण में एक सा ह्रास प्रकट करती हैं। फिर भी कुछ सम्मानजनक अपवाद हैं, जैसे गुलाम अली आजाद, लक्ष्मीनारायण शफीक की

ऐतिहासिक रचनाएं तथा गुलाम हुसैन का 'सियारुल मुटा अख्खीरिन'। दर्शन, ज्योतिषशास्त्र, ब्रह्म विज्ञान, गणितशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों में कभी कभी विद्वता प्रदर्शित करते हैं किंतु उनमें मौलिकता की बहुत कमी है। अनेक क्षेत्रों में हिंदुओं का योगदान उतना ही महत्वपूर्ण है जैसा मुसलमानों का। संस्कृत से परशियन में अनेक अनुवाद पूरी तरह हिंदुओं के द्वारा ही किये गये थे।

विशुद्ध साहित्य में अलौकिकता की भरमार, उच्छृंखल प्रेम लीलाएं, जिन्होंने अकबर के समय महाकाव्यों का स्थान ले लिया था, अभिरुचि के पतन को प्रकट करते हैं। जीवन की यथार्थताओं से बचने के इच्छुक लोगों की कामुक विलक्षण कल्पनाओं की पूर्ति 'बोस्तनी ख्याल' ऐसे उत्तम, सुरुचिपूर्ण निरर्थक साहित्य से करनी पड़ी। हिंदू इन अस्वस्थ परंपराओं की बीमारी से कम प्रभावित प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने तुलनात्मक रूप में कुछ ही कहानियां लिखीं और उनमें से अधिकांश ऐतिहासिक कहानियां या लोककथाएं थीं। उस समय की कविता भी, बौद्धिक तथा सौंदर्य बोध का जो ह्रास प्रारंभ हो गया था, उसकी दु:खद टीका है। उर्फी और नाजिरी के भावुकतावाद में सादगी और यथार्थता के तत्वों और कल्पनाओं की ताजगी थी। अब बेदिल, अहंकार की सूक्ष्मता तथा स्वप्न चित्रों की उच्छृंखलता को उस सीमा तक ले गया कि कविता एक प्रकार की कसरत मात्र रह गयी। किंतु यह बताना जरूरी है कि यद्यपि हिंदू और मुसलमान कवियों ने बेदिल को सामान्य तौर से अपनाया परंतु उनके स्वयं के शिष्यों में आनंदराम मुखलिस, आजाद सरीखे पंडित आरजू और शफीक ऐसे कुछ थे, जो प्रचलित फैशन की ओर नहीं झुके।

यह इस काल की बात है कि उर्दू ने तेजी से विकास किया और कम से कम उत्तर भारत के अधिकांश भागों तथा दक्षिण में उर्दू साहित्यिक भाषा के रूप में परशियन की प्रतिद्वंद्वी बन गयी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने फोर्ट विलियम कालेज के पाठ्यक्रम में उसे अंग्रेजी और पश्चिमी शास्त्रों के साथ सम्मिलित करते हुए उसकी लोकप्रियता की सराहना की। उर्दू लेखकों को सामान्य रुचि की पुस्तकें लिखने के लिए नियुक्त किया गया तथा अरबी एवं संस्कृत भाषाओं से सहज और शुद्ध भाषा में अनुवाद तैयार किये गये जिसे 'हिंदुस्तानी' कहा जाता था। इनमें से कुछ पुस्तकें कठिन अरबी, परशियन के स्थान पर कुछ संस्कृत के शब्दों का उपयोग करते हुए, देवनागरी लिपि में लिखी गयीं। इससे हिंदी का स्तर बनाने में सहायता मिली। यद्यपि ईस्ट इंडिया कंपनी ने उर्दू में जो दिलचस्पी ली वह अधिक समय तक नहीं चली और उसके प्रशासन में परशियन भाषा ही बनी रही, जब तक कि अंग्रेजी ने अंतिम रूप से उसका स्थान ग्रहण नहीं कर लिया। उर्दू को जो गति मिली, उससे वह अपनी विलक्षण शक्ति से आगे चली गयी और इस तरह उसे, उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों, जिसमें वर्तमान उत्तरप्रदेश, पंजाब का एक भाग तथा बहुत से स्वायत्तशासी राज्यों में, अंग्रेजी के साथ शासकीय भाषा बना दिया गया।

वास्तुकला और ललित कलाओं को भी मुगल साम्राज्य के पतन से क्षति हुई। राजनैतिक षड्यंत्र और संघर्षों का शिकार दिल्ली राज दरबार का न तो इस ओर झुकाव

था और न कला को संरक्षण प्रदान करने के लिए उसके पास साधन थे। छोटे स्वतंत्र राज्यों ने अवश्य अपने सीमित रूप में उन्हें प्रोत्साहित किया किंतु वे कलाकारों को, प्राचीन पंडितों की नकल करने के सिवा और कुछ अधिक करने के लिए प्रेरित नहीं कर सके।

इस काल में कोई बड़ी वास्तुकला विकसित नहीं की जा सकी, किंतु जो शालीन महल, पूजा के स्थान पर निर्मित किए गये थे, मुगल या हिंदुस्तानी शैली की सामान्य विशिष्टताओं को प्रदर्शित करते हैं। जामनगर के राव तथा छतरपुर के राजा के महल, लाहौर में महाराजा रणजीत सिंह, कोटा में महाराजा उम्मीदसिंह और अलवर में महाराजा बख्तावर सिंह के स्मारक, बनारस में विश्वेश्वर मंदिर तथा अमृतसर में स्वर्ण मंदिर सब इसके उदाहरण हैं। यहां तक कि हिंदू कुलीन व्यक्तियों के निजी निवास स्थानों की, जो समय की बरबादी से बच गये थे, बिल्कुल वही बनावट थी, जैसी कि शाहजहां के शासन काल में निर्मित मकानों की।

चित्रकारी में, उपर्युक्त मुगल शैली के अलावा, जो अवध और हैदराबाद के राज दरबारों में विकसित हुई, जयपुर शैली तथा वे जो जम्मू और अनेक पंजाब की पहाड़ियों में प्रचलित थीं, विकसित होती गयीं। संगीत में हिंदू शास्त्रीय तथा नयी मिश्रित शैली जो मुगल सल्तनतों के समय विकसित हुई थी, हिंदू और मुसलमान राज्यों द्वारा समान रूप से अपनायी जाती थी और यह कला सभी बाह्य उपेक्षाओं के संकेतों के बावजूद भारतीय मन के आंतरिक सामंजस्य का प्रत्यक्ष प्रमाण देती रही।

सामाजिक जीवन में भोजन, वस्त्र, रीति रिवाज और व्यवहार की सामान्य एकरूपता, जिसे हिंदुस्तानी संस्कृति ने हिंदू और मुसलमानों के उच्च वर्ग में पैदा किया था, इस काल के अंत तक बिना किसी बाधा के चलती रही। ब्रिटिश या अन्य योरोप के लेखकों के द्वारा लिखे गये भारतीय जीवन के विवरणों में क्षेत्रीय तथा वर्गीय संस्कृति के साथ साथ समान हिंदुस्तानी संस्कृति का संदर्भ मिलता है। अकबर तथा उसके एकदम बाद के उत्तराधिकारियों द्वारा निर्मित अधिकांश भव्य उत्कृष्ट इमारतों को नष्ट कर दिया गया था, किंतु नींव तब भी ज्यों की त्यों बनी रहीं।

इस काल में भारतीय जीवन पर जो भी ब्रिटिश प्रभाव रहा वह 1773 के बाद प्रारंभ हुआ, जबकि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा कार्यान्वित किये जाने वाले शासन के कार्य ब्रिटिश पार्लियामेंट के सामान्य नियंत्रण में आये और कंपनी ने क्रमशः सभ्य प्रशासन का चरित्र धारण करना प्रारंभ कर दिया। उसके पहले तक, वे खतरनाक व्यापारिक लुटेरों के गिरोह से कोई अच्छे नहीं थे और जिनके लिए संस्कृति एक अज्ञात वस्तु थी। अंग्रेजों के विरुद्ध कुछ अनुचित रूप में घृणा भारतीयों के मन में तब तक बनी रही, जब तक कि महात्मा गांधी ने प्रेम के संदेश के माध्यम से उसे दूर नहीं कर दिया। शायद यह राजनैतिक अराजकता के भयंकर दिनों का मनोवैज्ञानिक असर था, जबकि ईस्ट इंडिया कंपनी लाचार व्यक्तियों का खून चूसने के लिए स्वतंत्र थी।

प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज के अधीन कंपनी का प्रशासन पूरी तरह बदल

दिया गया और अच्छी तरह के लोक सेवकों के आने से अंग्रेजों तथा भारतीयों के बीच सांस्कृतिक संबंध संभव बन गया। वारेन हेस्टिंग्ज स्वयं एक बुद्धिमान विशाल दृष्टिकोण वाले सुसंस्कृत व्यक्ति थे। वे, प्रथम अंग्रेज प्रशासक थे, जिन्होंने यह अनुभव किया कि उनके देशवासियों को उस भूमि की संस्कृति के संबंध में कुछ जानना चाहिए, भाग्य ने जिसका उन्हें प्रशासक बना दिया था, और उसकी रक्षा करने तथा बढ़ाने में सहायक बनना चाहिए। उनकी प्रेरणा से गुलाम हुसैन ने 'सियारुल-मुटा-अख्खीरिन' की रचना की, जो 18 वीं शताब्दी का सबसे विश्वसनीय इतिहास है। वारेन हेस्टिंग्ज को केवल अंग्रेजी तथा योरोप की ललित कलाओं का ही पूरा ज्ञान नहीं था, बल्कि वे परशियन और संस्कृत भी जानते थे। उन्होंने परशियन भाषा की कोमलता और माधुर्य का ऐसा आनंद उठाया कि एक बार एक दोस्त को लिखे गये पत्र में उन्होंने यह सुझाव दिया कि परशियन को आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया जाना चाहिए और उसे अंग्रेजों की शिक्षा का एक अंग बना देना चाहिए। उन्होंने मुसलमान एवं हिंदू धर्म के कानूनों के संकेत बना लिए थे तथा मौलवियों और पंडितों की सहायता से उनका अंग्रेजी में अनुवाद करा लिया था। उनके संरक्षण में 1781 में कलकत्ता मदरसा तथा 1784 में प्राच्य-विद्या में शोध के लिए रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की गयी।

कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना उनके प्रशासन के अधीन क्षेत्र में शिक्षा को प्रोत्साहित करने का ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा लिया गया पहला कदम था। उसके बाद उन्होंने लोक सेवकों को प्रशिक्षित करने के लिए फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की, किंतु कुछ समय तक जन शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। 1813 में संशोधित चार्टर के अंतर्गत, जो कंपनी ने ब्रिटिश पार्लियामेंट से प्राप्त किया, रुपये एक लाख प्रति वर्ष जन शिक्षा पर व्यय करना उनके लिये आवश्यक था किंतु आने वाले 10 वर्षों तक कुछ नहीं किया गया, क्योंकि यह पैसा प्राच्य शिक्षा पर या अंग्रेजी और पश्चिमी विज्ञान पढ़ाये जाने में व्यय किया जाना है, इस विवाद का समाधान नहीं हो सका था। इसलिए अरबी, परशियन और संस्कृत पढ़ाने के लिए कालेज स्थापित करने, पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करने तथा आधुनिक विज्ञान संबंधी पुस्तकें अंग्रेजी से प्राच्य भाषाओं में अनुवादित करने के लिए जन शिक्षा पर एक कमेटी नियुक्त की गयी। इस योजना के अंतर्गत दो नये संस्थानों, आगरा कालेज तथा देहली कालेज, की स्थापना की गयी।

किंतु इस योजना को बहुत कम सफलता मिली। बहुत से रूढ़िवादी भारतीय शासकीय कालेजों में अपने बच्चों को भेजने में हिचकिचाए, क्योंकि उन्हें उनके धार्मिक विचारों पर अवांछित प्रभाव पड़ने का भय था। जहां तक उन लोगों का संबंध है, जो अपने बच्चों को शिक्षित करने के लिए तैयार थे, उनका प्रमुख उद्देश्य सरकारी नौकरियां प्राप्त करना था। अतः यह सोचा गया कि शासकीय कालेज, जिनमें अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जाती, उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेंगे। उन्होंने अच्छे विचार वाले अंग्रेज डेविड हेयर की सहायता से पहले ही हिंदू कालेज की स्थापना कर ली थी, (1817) जिसमें परशियन और

बंगाली के साथ अंग्रेजी पढ़ाई जाती थी। इसके बाद बाबू गौर मोहन अउद्दे ने उसी तरह की एक दूसरी संस्था स्थापित की 'द ओरियंटल सेमीनरी'। ये दोनों संस्थाएं अपनी क्षमता के अनुसार पूरी भरी रहती थीं, जबकि प्राच्य महाविद्यालयों में बहुत कम विद्यार्थी उपस्थित होते थे। 1829 में जब अंग्रेजी शासकीय भाषा घोषित की गयी, प्राच्य महाविद्यालयों को और अधिक धक्का लगा। 1835 में पुराना विवाद पुनर्जीवित किया गया और जन शिक्षा कमेटी के अध्यक्ष लार्ड मेकाले ने अपनी महत्वपूर्ण टिप्पणी लिखी, जो प्राच्य संस्कृति की बुद्धिमतापूर्ण वकालत प्रखर अलंकारिक भाषा तथा स्थूल अज्ञमनता का उल्लेखनीय प्रमाण और पूर्ण संकुचित मनोवृति की परिचायक थी। फिर भी गवर्नर जनरल ने यह निर्धारित किया कि सरकार अब आगे आधुनिक विज्ञान की शिक्षा प्रवर्तित करेगी और अंग्रेजी स्कूल और कालेजों में अनिवार्य विषय नहीं बल्कि शिक्षण का माध्यम बनेगी। कंपनी के प्रशासन ने अपने को प्राथमिक शिक्षा से बिल्कुल भी संबंधित नहीं किया, इस तथ्य के बावजूद भी कि बहुत से पुराने मकतब राजनैतिक अशांति और आर्थिक संकट के कारण बंद कर दिए गये थे। क्रिश्चियन मिशनरियों तथा कुछ सामाजिक चेतना वाले भारतीयों द्वारा कुछ प्राथमिक शालाएं कलकत्ता के आसपास के क्षेत्रों में खोली गयीं किंतु उनसे सामान्य आवश्यकता की आंशिक पूर्ति भी नहीं हुई। संभवतः स्थानीय हस्तशिल्प तथा उद्योगों को दबाने की सामान्य नीति के कारण औद्योगिक और व्यवसायिक शिक्षा पूरी तरह उपेक्षित बनी रही। चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा की ओर फिर भी कुछ ध्यान दिया गया, और कलकत्ता में चिकित्सा विद्यालय (1807), जिसमें शिक्षा का माध्यम हिंदुस्तानी था, के अतिरिक्त कलकत्ता मेडिकल कालेज (1835) और बांबे ग्रांट मेडिकल कालेज (1845) अंग्रेजी को शिक्षण का माध्यम बनाकर, स्थापित किये गये थे।

इस तरह हम देखते हैं कि इस काल में अंग्रेजों की शैक्षणिक गतिविधियां इतनी सीमित और अव्यवस्थित थीं कि उनका भारत के सांस्कृतिक जीवन पर उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ सका।

इस काल में शैक्षणिक प्रभाव के रूप में कुछ कालेजों की स्थापना की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था प्रिंटिंग प्रैस और समाचारपत्रों का प्रादुर्भाव। अंग्रेजी में मुद्रण शायद अंग्रेजों के आने के शीघ्र बाद प्रारंभ हो गया था, किंतु पहला समाचार पत्र 1760 में अंग्रेजी में 'हिक्स गजेटियर' के नाम से कलकत्ता में प्रारंभ हुआ। भारतीय भाषाओं में, 'द बंगाल समाचार', 1816 में बंगाली भाषा में कलकत्ता में प्रारंभ होने वाला सबसे प्रथम समाचारपत्र था। इस काल के अंत तक, अनेक समाचार पत्र अंग्रेजी और प्रमुख भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होना प्रारंभ हुए, जिन्होंने भारतीयों का ज्ञान व्यापक बनाने तथा नये विचार देने में काफी सहायता की।

जहां तक ललित कलाओं का संबंध है, ऐसा प्रतीत होता है कि, उस समय की कंपनी सरकार तथा एंग्लो-इंडियन समाज का योगदान उसमें बहुत कम था। व्यवसायिक

मनोवृति के कारण, अधिकतर समाज के पास वस्तुगत लाभ तथा भौतिक आनंद के सिवा, दूसरे अन्य कोई मूल्य नहीं थे। सौंदर्य बोध अच्छे तरह के लोक सेवकों के छोटे समुदाय तक ही सीमित था, जो अपने ड्राइंग रूम को, सर जोशुआ रेनाल्ड्स या नार्थकोट की मूल पेंटिंग तथा उसकी प्रतिलिपियों से सजाने से अधिक और कुछ नहीं कर सकते थे। कभी कभी कुछ भारतीय नरेश, विशेषकर अवध के नरेश योरोपीय कलाकारों को चित्रांकन के लिए नियुक्त करते थे, किंतु भारत में कला के विकास को आवश्यक गति प्रदान करने के लिए यह पर्याप्त नहीं था। अकुशलतापूर्ण संगीत, नृत्य और नाटक एंग्लो-इंडियन समाज में आयोजित किये जाते थे, किंतु वे संभवतः ऊंचे स्तर के नहीं हो सके। वाजिद अली शाह अवध के नवाब के राज दरबार के नाट्य गृह शायद इंग्लिश थियेटर की मंच व्यवस्था अपनाते थे।

वास्तुकला में 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ तक ईस्ट इंडिया कंपनी पोर्तगीज शैली की नकल करती रही, जो भारत में योरोप के उपनिवेशों में प्रचलित थे। शताब्दी के दूसरे अर्द्धक में बहुत सी सार्वजनिक इमारतें, अंग्रेज इंजीनियरों के द्वारा, 17 वीं और 18 वीं शताब्दी में लंदन एवं अन्य इंग्लिश शहरों में निर्मित इमारतों के नमूनों पर बनायी गयी थीं। कलकत्ता केथडल के सामने का भाग (जो 1887 में पूर्ण किया गया) कहा जाता है कि वालब्रुक में स्थित सेंट स्टीफन के चर्च से नकल किया गया था तथा डिजाइन प्रसिद्ध अंग्रेज वास्तुकार रेन द्वारा बनाया गया था। इसी तरह शासकीय भवन (1802 में पूर्ण किया हुआ) डरबी शायर के केडिलस्टन हाल के नमूने पर बनाया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धक की अधिकांश इमारतें, शास्त्रीय पद्धति के अग्रभाग, विस्तृत बरांडे, कालम की नीची शृंखलाओं तथा विशाल पोर्टिको के साथ नवजागरण शैली की नीचे स्तर की प्रतिकृति थीं। अक्सर भारतीय इस शैली में अपने निजी घर बनाते थे, किंतु भारत और योरोप की शैलियों का अभी तक मेल नहीं हुआ था। फिर भी असफउदौला के समय की लखनऊ की इमारतें विशेषकर इमामबाड़ा और रुमी दरवाजा का सादा सुंदर समन्वित डिजाइन पश्चिमी वास्तुकला से प्रभावित था।

किंतु भारतीय जीवन पर वास्तविक और महत्वपूर्ण प्रभाव पश्चिमी सभ्यता के यांत्रिकी पहलू के कार्यान्वयन से आया। सैनिक संगठन के आधुनिक शस्त्रों और तरीकों ने, जिसकी सहायता से अंग्रेजों ने भारत में राजनैतिक सत्ता प्राप्त की, गहरा प्रभाव छोड़ा और प्रत्येक भारतीय राज्य ने जहां तक साधनों के द्वारा संभव हो सका उन्हें प्राप्त किया। वाष्प जहाज सेवा जो 1923 या 1924 में प्रारंभ हुई, ने समुद्र यात्रा को सरल बना दिया और भारतीयों को विदेश यात्रा के लिए प्रोत्साहित किया जिससे उनका दृष्टिकोण व्यापक बनाने में सहायता मिली। इस काल के अंत तक गैस लाइट, रेलवे और टेलीग्राफ देश में प्रारंभ किए गए। प्रथम रेलवे लाइन बंबई और थाना के बीच 1853 में प्रारंभ की गयी और कलकत्ता तथा रानीगंज के बीच 1855 में। टेलीग्राफ लाइन ने कलकत्ता और बंबई तथा मद्रास और अटक के बीच 1854 में कार्य करना प्रारंभ किया।

संक्षेप में 18 वीं शताब्दी के अंतिम चौथे भाग में, पश्चिमी संस्कृति ने, सीमित क्षेत्र में भारतीयों के एक वर्ग पर कुछ प्रभाव डालना प्रारंभ कर दिया था, किंतु देश के सामान्य सांस्कृतिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन लाने के लिए वह पर्याप्त नहीं था। भारत के लोगों के पास पश्चिमी संस्कृति की आत्मा को देखने का अब भी अवसर नहीं था। जो कुछ उन्होंने देखा वह क्रिश्चियन मिशनरियों या व्यापारी शासकों द्वारा लाया गया था और यह उन्हें धर्म, उनकी राजनैतिक स्वतंत्रता और उनके आर्थिक कल्याण के लिए खतरनाक मालूम पड़ा। इसलिए पश्चिमी संस्कृति के प्रति उनका रुख वही था जैसा अंग्रेजों के राजनैतिक और आर्थिक दबाव के प्रति और उनकी इस संस्कृति के प्रति गहरी अरुचि 1857 के विद्रोह का एक कारण थी।

12. भारत पर अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव

(1857-1920)

यद्यपि 19 वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में अंग्रजों की भारत में राजनैतिक सर्वोच्चता स्थापित हो चुकी थी, किंतु पश्चिमी संस्कृति की अंग्रेजी विविधता, जो नये शासक अपने साथ लाये थे, तब तक भारतीय मन पर गहरा प्रभाव नहीं डाल सकी थी। रेलवे और टेलीग्राफ आदि के रूप में यांत्रिकी विकास पश्चिमी सभ्यता का एकमात्र पहलू था, जिसने लोगों में सामान्य तौर से आश्चर्य एवं प्रशंसा के भाव पैदा किए। अंग्रेजी संस्कृति केवल कलकत्ता तथा कुछ अन्य शहरों के भारतीयों के एक छोटे से समूह को छोड़कर बाकी अन्य पर कोई प्रभाव दिखाने में असफल रही। असफलता के कारणों के तीन पहलू थे।

(1) भारतीय अब भी अपनी संस्कृति से संतुष्ट थे और ऐसा अनुभव नहीं करते थे कि उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है। उन्होंने यह महसूस नहीं किया कि उनका राजनैतिक पतन कुछ सीमा तक उनके बौद्धिक एवं नैतिक ह्रास के कारण हुआ है, जिससे कि उनके सांस्कृतिक जीवन में निष्क्रियता आ गयी और इसलिए किसी बाहरी प्रेरणा का स्वागत करना चाहिए, जो उनके जीवन में हलचल उत्पन्न कर दे।

(2) लार्ड मेकाले के समान कुछ को छोड़कर भारत में अंग्रेज अब तक श्रेष्ठता की भावना से ग्रस्त नहीं हुए थे जैसी की उस समय इंग्लैंड में स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। वे धन और सत्ता को चाहते थे किंतु बड़ी सीमा तक राष्ट्रीय और जातिगत अहं से मुक्त थे। वे श्वेत मनुष्यों के उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक नहीं थे और ऐसा अनुभव नहीं करते थे कि उन्हें रंगवाले व्यक्तियों को सभ्य बनाने के लिए बुलाया गया है। यथार्थ में स्लीमन जैसे प्राचीन परंपरा के अंग्रेज प्रशासकों, जो राजनैतिक दृष्टि से भारतीयों पर 'नाल-सहित सवारी' करने पर विश्वास करते थे, का भारतीयों के परिमार्जित व्यवहार, संस्कृति तथा विद्वता के प्रति सम्मान था, विशेषकर विशुद्ध प्राच्य शिक्षा वाले मुसलमानों के प्रति। संक्षेप में मेकाले द्वारा प्रवर्तित शिक्षा को पश्चिमी प्रभाव में लाने की शासकीय नीति के बावजूद भी, उन दिनों सामान्य तौर से अंग्रेजों ने भारतीयों पर अपनी संस्कृति लादने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि कुछ सीमा तक वे स्वयं भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुए।

सन् 1857 के बाद स्थिति अचानक एकदम बदल गयी। भारतीयों को उनकी अपनी राजनैतिक कमजोरी के परिणाम महसूस होने से ऐसा धक्का लगा कि उनका

अपनी संस्कृति पर से विश्वास हिल गया। समस्त भौतिक तथा नैतिक कमजोरियों के प्रति परंपरागत घृणा के साथ अब उनके शासक भी भारतीयों तथा उनकी संस्कृति को नीची नजर से देखने लगे। जब अंग्रेज शासकीय कर्मचारियों की नयी पीढ़ी, जो अपनी जातिगत तथा सांस्कृतिक श्रेष्ठता और अपने पवित्र साम्राज्यवादी मिशन पर निष्ठापूर्वक विश्वास करती थी, भारत आयी और संपूर्ण देश को भय से शक्तिहीन तथा समर्पित देखा, तो उनके मस्तिष्क में कोई संदेह नहीं रह गया कि उन्हें दबे हुए लोगों से व्यवहार करना है, जिन्हें पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से ऊपर उठाना उनका पवित्र कर्तव्य है। उन्होंने महसूस किया कि और कोई नहीं सिर्फ अंग्रेज ही भारत में राजनैतिक अराजकता को दबाकर शांति और व्यवस्था कायम कर सकते हैं। मध्यवर्ती भारतीय संस्कृति समय के अनुकूल नहीं रह गयी और आधुनिक युग की आर्थिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। भारत को आधुनिक पश्चिमी संस्कृति को किसी रूप में अपनाना होगा, जिसने उसके शासकों की वर्तमान समृद्धि और शक्ति में सहायता की है। विदेशी बौद्धिकता तथा राजनैतिक सत्ता के अनेक विरोधी थे, किंतु उस समय वे खुलकर सामने आने का साहस नहीं कर सके। उनका एकमात्र आश्रय धर्म था, जहां वे सरकार की नाराजगी से सुरक्षित रह सकते थे। इसलिए वे धार्मिक संस्थाओं और मठों में अवकाश का जीवन बिता रहे थे। किंतु सामान्यतया पुराने, मध्यम और उच्च वर्ग के लोग, जो राजनैतिक पराभव में बच गये थे, नये राजनैतिक, सांस्कृतिक समाधान के प्रति समर्पित होने के इच्छुक थे। हिंदू जो बदलती हुई परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में अधिक सक्षम थे, नये अंग्रेजी स्कूलों की ओर शीघ्रता से आगे बढ़े। दूसरी ओर मुसलमानों ने पश्चिमी शिक्षा से अपने को तब तक अलग रखा जब तक कि सर सैयद अहमद खान के प्रबुद्ध नेतृत्व ने उन्हें समय के साथ चलने का ज्ञान का मार्ग नहीं दिखाया। इसलिए भारत सरकार के पास उनकी शैक्षणिक और सांस्कृतिक नीति को संशोधित करने का कोई कारण नहीं रहा, जो कि 1857 के विद्रोह का एक कारण था, बल्कि बड़ी संख्या में भारतीयों की सहायता से उसे और सुव्यवस्थित ढंग से अच्छी तरह कार्यान्वित करने का निश्चय किया। प्रगट रूप से यह नीति अपने उद्देश्य में सफल हुई और अंग्रेजी संस्कृति की स्थानीय नकल प्रारंभ हो गयी, जिसने क्रमशः हिंदुस्तानी संस्कृति का स्थान ले लिया।

जहां तक राज्य के प्रति स्वामिभक्ति पर आधारित राजनैतिक एकता लाने के लिए समान संस्कृति का संबंध है, अकबर की नीति के साथ नयी शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक नीति की बराबरी करना, दिखावा मात्र था। किंतु आधारभूत अंतर यह था कि राज्य जिसके लिए अकबर स्वामिभक्त नागरिक बनाना चाहता था, वह इस प्रकार का था कि उसमें राजा की सर्वोच्च सत्ता के अधीन सभी लोगों को बिना जाति या धर्म के भेदभाव के बराबरी का दर्जा और बराबरी का अधिकार प्राप्त था। इसमें कोई संदेह नहीं कि शासक परिवार विदेश से आया था, किंतु वह भारत में बस गया था और भारत को अपना

घर बना लिया था। अकबर और उनके अधिकांश उत्तराधिकारियों ने उनके और प्रजा के बीच सीधा संबंध स्थापित करने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न किया और उन्हें ऐसा महसूस कराया कि राजा उनकी महत्वाकांक्षाओं और भावनाओं का प्रतिरूप है। किंतु 'राज्य' जिसमें अंग्रेज भी भारतीयों को एकत्रित करना चाहते थे, यथार्थ में, वह बिल्कुल ही राज्य का रूप नहीं था। वह ब्रिटेन पर आश्रित एक अधीन राज्य था, जिस पर नाममात्र को सम्राट शासन करता था। यथार्थ में उस पर ब्रिटिश पार्लियामेंट, संपूर्ण ब्रिटिश राष्ट्र का शासन था। इसका अर्थ यह था कि अब भारतीयों की निष्ठा एक व्यक्ति या एक राजवंश के लिए नहीं थी, बल्कि एक संपूर्ण राष्ट्र के लिए थी, जो उनके इतिहास और संस्कृति, उनकी महत्वाकांक्षाओं और भावनाओं के बारे में कुछ नहीं जानता था, जो हजारों मीलों की दूरी पर था और उनके द्वारा न वहां पहुंचा जा सकता था, न ही उसे प्रभावित किया जा सकता था। भारत में इस शासक राष्ट्र के प्रतिनिधियों ने, अब जो भी प्रजा के साथ संबंध थे, उन्हें तोड़कर संपर्क न किए जा सकने योग्य बना लिया। इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भी समन्वय के स्थान पर दबाव का उद्देश्य लेकर चले। अकबर के समान उन्होंने भारत की संस्कृति के साथ अपनी संस्कृति का मेल करने तथा बराबरी के सामाजिक संबंध बनाने का नहीं, बल्कि ऊपर से भारत पर जितनी भी पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति उनके हित में समझते थे, उन्होंने अपने को अलग रखते हुए लादने का प्रयत्न किया।

यथार्थ में शासक राष्ट्र से संबंधित प्रत्येक बात के प्रति उसकी प्रजा के लिए आकर्षण के अतिरिक्त, पश्चिमी संस्कृति का अंतर्निहित गुण, उसके मस्तिष्क की आधुनिक वैज्ञानिक प्रवृति तथा व्यावहारिक कार्यकुशलता थी। किंतु दुर्भाग्य से जिस तरह का ताजा रक्त भारतीय समाज के रक्तहीन शरीर में भरा गया, उसने उसे इन महत्वपूर्ण अवयवों से वंचित कर दिया और कुल मिलाकर अच्छाई के स्थान पर हानि अधिक हुई।

प्रथम स्थिति में, आधुनिक पश्चिमी संस्कृति, जो भारत पहुंची वह वास्तविक रूप में नहीं, बल्कि यह उसका एक निर्यात रूप था जिसके पुर्जे इंग्लैंड से आये, किंतु भारत में उन्हें मुख्य रूप से अति सामान्य योग्यता वाले व्यक्तियों के द्वारा जमाया गया, जिन्हें अपने देश के लिए राजनैतिक बुद्धिमान नेता चुनने के बाद अलग किया जा सकता था। अपने सांस्कृतिक केंद्र से हजारों मील दूर भेजे गये, बौद्धिक स्वतंत्रता के वातावरण से दूर, लाखों लोगों पर शासन करने के लिए जो आवाज नहीं उठा सकते थे, अपने हित के लिए शिकायत नहीं कर सकते थे, उन्हें ब्रिटिश सरकार की स्वामिभक्त प्रजा बनाने तथा ब्रिटिश माल के विश्वसनीय खरीददार बनाने के लिए और उनके बचे हुए समय में एक नयी शिक्षा पद्धति तैयार करने तथा एक नया सांस्कृतिक संसार बनाने के लिए, वे बहुत युवा थे।

यथार्थ में कहा जाना चाहिए कि लगभग आधी शताब्दी तक इस ब्रिटिश साम्राज्य के पथ प्रदर्शकों, विशेषकर बहुत से सरकारी और शासकीय सेवाओं के सदस्यों, ने

मिशनरी भावना से काम किया, सिर्फ कुशल प्रशासन बनाने के लिए नहीं बल्कि उनके अधीन देश को मध्यवर्ती कृषि समाज की सीमाओं के अंतर्गत, जितना उनके लिए संभव था, पश्चिमी संस्कृति की भौतिक सुविधाओं तथा मानसिक दृष्टि से समृद्ध बनाने के लिए भी किया।

किंतु स्पष्ट है कि प्रतिकूल आबहवा तथा असामंजस्यपूर्ण सामाजिक वातावरण में, इंग्लैंड और दूसरे पश्चिमी देशों से, बड़े विद्वानों तथा कलाकारों को आकर्षित करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी, जो एक सार्थक पश्चिमी संस्कृति उत्पन्न करने में सहायक हो सके। परिणाम यह हुआ कि यह कार्य नौसिखियों के द्वारा किया जाना पड़ा अर्थात् ब्रिटिश अधिकारियों और व्यापारियों के द्वारा जो पोशाक, फर्नीचर, कला और शिल्पकला तथा सामान्य रहन-सहन और विचारों में प्राचीनकाल के बाहर के अंग्रेजी फैशन के सिवा और कुछ उपलब्ध नहीं कर सकते थे। संस्कृति जो इस तरह से अस्तित्व में आयी उसे यथार्थ में अंग्रेजी या पश्चिमी संस्कृति नहीं कहा जाना चाहिए, बल्कि भारतीय रूप में औपनिवेशिक संस्कृति कहा जा सकता है, जो पश्चिमी ताकतों के एशिया तथा अफ्रीका के उपनिवेशों एवं अधिकृत क्षेत्रों में बढ़ रही थी।

इसके अतिरिक्त यह नकली संस्कृति भी जातिगत अहम् तथा अंग्रेजों की असामाजिकता, विशेषकर भारत में अंग्रेज प्रतिनिधियों के कारण उपयुक्त तरीके से भारतीयों को संप्रेषित नहीं हो सकी। अधीन देश में शिक्षक और सुधारक की भूमिका का निर्वाह करने में विदेशी शासकों द्वारा अनुभव की जा रही आंतरिक कठिनाइयां भारत में और बदतर हो गयीं। यह इस तथ्य के कारण हुआ कि शिक्षक शिष्यों के साथ कोई सामाजिक संपर्क बनाने की प्रतिष्ठा के नीचे की बात मानते थे। इसलिए जब भारतीयों ने एक सम्मानजनक दूरी से भारत के अंग्रेजों के जीवन में समाहित अंग्रेजी संस्कृति को देखने का प्रयत्न किया तो उन्हें केवल ऊपरी वातावरण जैसे पोशाक, भोजन और सामान्य बाहरी रहन-सहन का तरीका या उनकी असामाजिक प्रवृति तथा उनका धार्मिक संदेहवाद एवं भौतिकवाद की झलक देखने को मिली। इस सब में निष्ठावान सांस्कृतिक अनुयायियों ने अपने स्वामी की जितना संभव हो सका नकल करने की कोशिश की। अंग्रेज चरित्र के आधारभूत गुण के साथ इच्छा शक्ति, नैतिक साहस, खिलाड़ी तथा शालीनता की भावना और आधुनिकता के वे लक्षण जो अन्य पश्चिमी व्यक्तियों के साथ अंग्रेजों में भी थे, निरीक्षण की वैज्ञानिक प्रवृति तथा मनुष्यों के सुख के लिए प्राकृतिक शक्तियों के दोहन की इच्छा, अधिकांश भारतीयों की नजरों से छिपे रहे और उनके जीवन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लार्ड मेकाले को आशा थी कि अंग्रेजी और आधुनिक विज्ञान का अध्ययन एक ऐसे वर्ग के लोगों को उत्पन्न करेगा, जो देखने में भारतीय किंतु भावनाओं में योरोपीय होंगे। वास्तव में यह हुआ कि बहुत से शिक्षित भारतीय बाहर से दिखने में अंग्रेजों के नकलची बन गये किंतु नैतिक और बौद्धिक क्षेत्र में या तो वे अंग्रेज चरित्र से पूरी तरह अप्रभावित रहे या उनके सबसे बुरे गुणों को अपना लिया जिसने उन्हें

असैद्धांतिक, असंतुलित, अराष्ट्रीय व्यक्तियों में बदल दिया।

संक्षेप में, नयी संस्कृति जिसे उच्च और मध्यम वर्ग के भारतीयों के एक समुदाय ने, औपनिवेशिक अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। वह एक आम संस्कृति थी, राष्ट्रीय संस्कृति नहीं। उसने शिक्षित भारतीयों में एक सीमा तक एकरूपता पैदा की, किंतु आंतरिक एकता नहीं, जो उच्च जीवन मूल्यों में सामुदायिक आस्था से उत्पन्न होती है। फिर भी, चूंकि भारतीय मस्तिष्क की स्थिर निंद्रा में हलचल पैदा करने के लिए, यह एक सेवा है, हमें इसकी ओर कुछ ध्यान देना होगा।

किंतु किसी भ्रम से बचने के लिए हमें दो बातें स्पष्ट कर लेनी चाहिएं। प्रथम यह कि जिसका हम यहां वर्णन कर रहे हैं, भारत में रह रहे अंग्रेजों या योरोपियनों का सांस्कृतिक जीवन नहीं है, बल्कि अंग्रेज समान या पश्चिमी प्रभाव वाले भारतीयों का है, जिन्होंने उनकी नकल करने का प्रयत्न किया और दूसरा यह कि विवरण सभी शिक्षित भारतीयों पर लागू नहीं होता, जिन्हें पाश्चात्य शिक्षा का लाभ मिला, क्योंकि इसमें बहुत से अच्छे महान व्यक्ति भी शामिल हैं, जिन्होंने देश की राजनैतिक स्वतंत्रता तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान में प्रमुख भाग लिया।

भारत में औपनिवेशिक संस्कृति राज्य भर में स्थापित की गयी, किंतु वह एक विशिष्ट प्रकार का राज्य था, जिसका ज्ञान भारत को उसके इतिहास में कभी नहीं हुआ। भारत ने हिंदू धर्म प्रधान राज्य, बौद्धों का नैतिकता प्रधान राज्य और मुगल संस्कृति का राज्य देखा, जिनकी लगभग एक सी सांविधानिक प्रकृति थी। सत्ता एक व्यक्ति, राजा या सम्राट में निहित होती थी और सभी व्यक्तियों का प्रजा के रूप में एक समान राजनैतिक दर्जा होता था। सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का केंद्र बिंदु राज दरबार होता था। कार्यकारी न्यायिक तथा सांविधानिक कार्यों के अतिरिक्त सम्राट के पास विविध सांस्कृतिक कार्य होते थे, जैसे समाज सुधार, नैतिक प्रतिबंध, दान देना, कला और हस्तशिल्प के अध्ययन को संरक्षण और यहां तक कि पोशाक और व्यवहार में फैशन निर्धारित करना। राज्य का गुरुत्वाकर्षण केंद्र, मुसलमान राजाओं के शासनकाल में भी, देश के अंदर था। किंतु राज्य जिसकी अब अंग्रेजों ने स्थापना की, हर तरह से पारंपरिक भारतीय राज्य से भिन्न था। यथार्थ में वह एक राज्य नहीं था, बल्कि बिना सत्ता के अधिकार के एक अधीनस्थ प्रशासन मात्र था। सत्ता नाममात्र को राजा के पास थी, किंतु वास्तविक सत्ता ब्रिटिश पार्लियामेंट में निहित थी, जिसने अपने बहुत से अधिकार वाइसराय को हस्तांतरित कर दिए थे, जो शासन के कार्य सरकारी नौकरों की सहायता से संपन्न करता था। यह सेवा लंबे समय तक पूरी तरह विदेशियों के द्वारा संपादित होती रही जो अपने को, जाति एवं संस्कृति की दृष्टि से, मूल निवासियों की तुलना में श्रेष्ठ समझते थे और यह श्रेष्ठता हर संभव तरीके से व्यक्त करते थे जिसके कि नेटिव शब्द ही अनादर के शब्द के रूप में उपयोग किया जाने लगा। स्पष्ट था कि इन परिस्थितियों में शासक और शासित के बीच वह समझ लाने की कोई संभावना नहीं थी जो एक अच्छे

शासन के लिए अनिवार्य है। हमने पूर्व में ही स्वीकार किया है कि अंग्रेज सरकारी कर्मचारी जो 1857 के बाद भारत आये, उन्होंने संपूर्ण रूप में, शांति और व्यवस्था कायम रखने, प्रशासनिक तथा न्यायिक पद्धतियां निष्ठापूर्वक कुशलता से संचालित करने और लोगों को उन्नत बनाने के क्षेत्र में ईमानदारी से तथा कुछ मामलों में साहसिक प्रयत्न किए। किंतु उनके प्रयत्न वांछित सफलता प्राप्त करने में असफल रहे। यह कुछ अंशों में इस कारण कि उनके और जनता के बीच पारस्परिक मनमुटाव तथा संदेह का वातावरण बना रहा और आंशिक रूप से इसलिए कि सरकार की आर्थिक नीति (जिसका बाद में संदर्भ दिया जायेगा) बुनियादी तौर से आवश्यक शांति और समृद्धि लाने में असमर्थ थी।

जहां तक उसके सांस्कृतिक कार्यकलापों का संबंध था, शासन ने सीमित लोगों को विदेशी भाषा की शिक्षा देने के सिवा, अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ाने की दिशा में कोई संतोषजनक रुचि नहीं दिखायी। शासकों का स्वयं का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन प्रजा के लिए प्रतिबंधित एक निजी कमरे तक सीमित था, उनके मार्गदर्शन के लिए प्रकाशगृह नहीं था। शासकों में अंधकार में डूबे लोगों तक पश्चिमी प्रकाश और शिक्षा ले जाने के लिए, अपने कर्तव्य के प्रति चेतना थी, किंतु उन्होंने सोचा कि भारतीयों को अंग्रेजी साहित्य, आधुनिक दर्शन तथा विज्ञान पढ़ाने से, वे अपने को पश्चिमी संस्कृति के रास्ते पर ले जायेंगे। एक सांस्कृतिक शोधनगृह के समान, जिस प्रकार से मुगल राज दरबार ने स्थापित किया था, उस प्रकार से अंग्रेजों द्वारा कायम नहीं किया जा सका, क्योंकि उसके लिए सामाजिकता की प्रवृति तथा कल्पनाशक्ति की आवश्यकता थी, जो उनके पास नहीं थी।

अवैयक्तिक, असांस्कृतिक, प्रभुसत्ताहीन राज्य भारतीय संस्कृति में सीधे कोई योगदान नहीं कर सका। किंतु उसने भारत को शांति और व्यवस्था तथा भविष्य के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए इससे भी अधिक मूल्यवान और महत्वपूर्ण, व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता की एक नयी अवधारणा तथा सार्वजनिक जीवन में प्रजातांत्रिक व्यवस्था की तकनीक का प्राथमिक प्रशिक्षण दिया। लार्डरिपन पहला वाइसराय था (1880-84) जिसने म्यूनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में प्रतिनिधि शासन का सिद्धांत लागू किया और इस तरह भारतीयों को आधुनिक प्रजातंत्र के तकनीक के मूल तत्वों को सीखने का अवसर प्रदान किया। इसके अतिरिक्त, उसने काफी विवादास्पद इलबर्ट विधेयक के माध्यम से उन्हें योरोपवासियों के साथ बराबरी का वैधानिक दर्जा प्रदान कर, उनमें राजनैतिक समानता की इच्छा जागृत की। इस विधेयक के संबंध में उत्तेजनापूर्ण विवाद के द्वारा उत्पन्न वह आवेग था, जिसने 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस को जन्म दिया। यदि लार्डरिपन की उदार नीति उसके उत्तराधिकारियों द्वारा चालू रखी गयी होती तो संभव था कि अंग्रेजों के सहयोग और मार्गदर्शन में राजनैतिक तथा सांस्कृतिक समझ का मार्ग भारतवर्ष में प्रशस्त हो जाता। किंतु यह उदारनीति मूल रूप से बदल गयी। जब राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए आंदोलन के तीव्र गति से बढ़ने के

कारण ब्रिटिश सरकार से भारतीयों के हाथों सत्ता के समुचित रूप से हस्तांतरण की मांग की गयी। ब्रिटिश सरकार द्वारा दी जाने वाली आगे की सभी रियायतों को संपूर्ण राष्ट्र के आंदोलन से दबाना पड़ा, जिन्होंने बाद में शांत अवरोध का रूप ले लिया और ये रियायतें लोगों को शांत करने की दृष्टि से काफी विलंब से आयीं। ब्रिटिश सरकार ने राजनैतिक स्वतंत्रता के प्रति परंपरागत प्रेम होते हुए भी, भारतीयों को उसे देना क्यों अस्वीकार कर दिया, इसका कारण यह था कि उनके आर्थिक स्वार्थ उन्हें लाचार करते थे कि भारत में जब तक संभव हो सत्ता में बने रहें।

ब्रिटिश भारतीय सरकार जो राजनैतिक नीति को किसी प्रकार चलाये जा रही थी, की आर्थिक नीति को समझने के लिए, यह स्मरण रखना होगा कि वह ईस्ट इंडिया कंपनी की उत्तराधिकारी थी और उसका सबसे महत्वपूर्ण ध्येय ब्रिटिश माल के लिए निश्चित बाजार प्राप्त करना तथा ब्रिटिश पूंजी के विनियोजन के लिए सुरक्षित क्षेत्र प्राप्त करना था। ब्रिटिश जनमत ने ईस्ट इंडिया कंपनी की क्यों आलोचना की थी कि सरकार को और नियंत्रण लगाने पड़े, उसका कारण यह था कि कंपनी के कुछ हिस्सेदारों ने भारत के भरपूर लाभ के व्यापार पर एकाधिकार स्थापित कर लिया था। जब औद्योगिक क्रांति ने ब्रिटेन में बड़े पैमाने पर निर्मित माल की वृद्धि की और नये बाजार की आवश्यकता हुई, ईस्ट इंडिया कंपनी को समाप्त कर दिया गया, जिससे सभी ब्रिटिश पूंजीपति और अप्रत्यक्ष रूप से संपूर्ण राष्ट्र, भारतीय बाजार का दोहन कर सकें। ब्रिटिश भारतीय सरकार को इसलिए ऐसी आर्थिक नीति अपनानी पड़ी जिससे भारत को ब्रिटिश औद्योगिक प्रणाली से संबद्ध किया जा सके। भारत विशुद्ध रूप से कृषि प्रधान रहे जो ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चा माल उत्पादित करे और जो माल वे निर्मित करें उसे खरीदे। इस नीति को लागू करने के लिए सरकार द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी के रूखे तरीके अपनाने की न आवश्यकता थी और न कोई इच्छा थी। ब्रिटिश मशीनों द्वारा निर्मित माल के आयात को प्रोत्साहित करने तथा भारतीय हाथों द्वारा बनाये गये सामान, जिनमें से कुछ का बहुत कलात्मक मूल्य था, को निरुत्साहित करने के दोहरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए, सीमा शुल्क में चालाकी के लिए परिमार्जित तथा स्थानीय तरीके उपयोग में लाये गये।

यह सही है कि भारत में कारखाने स्थापित किए गये, बैंक खोले गये, रेलवे कंपनियां प्रारंभ की गयीं, जो ऊपर से देखने वाले को आर्थिक विकास का प्रभाव देते थे, किंतु एक ओर भारत के विशाल क्षेत्र और बड़ी जनसंख्या को देखते हुए ये सब बहुत सीमित मात्रा में थे तथा दूसरी ओर इन सब पर लगभग पूरी तरह अंग्रेजों का अधिकार था और उनके द्वारा ही प्रबंध व्यवस्था संचालित की जाती थी। भारतीय उनके साथ, केवल ग्राहक या मजदूर और लिपिक के रूप में संबद्ध थे। ग्राहक के रूप में वे व्यक्तिगत कुछ लाभ प्राप्त करते थे, किंतु सामूहिक दृष्टि से अपना पैसा देश के बाहर भेजकर गरीब बन रहे थे। श्रमिक के रूप में वे एक लंबे समय तक, बिना किसी श्रमिक कानून के संरक्षण तथा बिना शक्ति के जो संघ बनाने से प्राप्त होती है, अपने विदेशी नियोक्ताओं की दया

पर निर्भर रहे। संक्षेप में, आंशिक रूप से, सरकार की विशिष्ट उद्देश्यमय नीति के कारण और कुछ अंशों में उसकी उदासीनता से, किंतु मुख्य रूप से भारतीयों की स्वयं की अज्ञानता और उत्साहहीनता के कारण, आधुनिक औद्योगिक प्रणाली भारत में विशेष परिस्थितियों में आयी, जिनका निर्देशन पूरी तरह विदेशी उद्योगपतियों के हाथों में रहा, बिना किसी उस सुरक्षा के, जो योरोप में कुछ सीमा तक हानिकर प्रभाव रोकने के लिए अपनाये गये थे। परिणामस्वरूप उसके प्रायः सभी लाभ अंग्रेजों को मिले, तथा उसके नुकसान भारतीयों द्वारा भोगे गये। कुल मिलाकर भारत ने अपनी मध्यवर्ती, कृषिजन्य अर्थव्यवस्था कायम रखी। यथार्थ में स्थिति अधिक बिगड़ गयी, क्योंकि मानवीय श्रम पर आधारित, स्थानीय गृह उद्योगों को शक्ति चालित उद्योगों की कठिन चपेट से, गला दबाकर मृत बना दिया गया। कुछ संख्या में श्रमिकों को छोड़कर, जो आधुनिक कारखानों में संलग्न हो गये, बाकी सब कृषि के क्षेत्र में गये और इस तरह कृषि योग्य भूमि पर पहले से जो दबाव अधिक था और बढ़ गया। किंतु भारतीय कृषकों के लिए इससे भी खतरनाक बात यह थी कि भारतीय कृषि को खेती की पुरातन पद्धतियों के साथ अब विश्व अर्थव्यवस्था से संबद्ध कर दिया गया और इस तरह अत्यधिक उन्नत देशों के साथ स्पर्धा में उसे खड़ा होना पड़ा। उन देशों में किसान को सहकारी बैंकों, उत्पादन की वैज्ञानिक पद्धति तथा संगठित बाजार की सहायता उपलब्ध थी। भारत पर उस समय अज्ञानता, साहूकार और मलेरिया सवार थे। इसलिए स्वाभाविक रूप से वह हर दृष्टि से पराजित था। उसके कपास और गेहूं को नीची श्रेणी में रखा जाता था। रासायनिक रंगों के सामने उसका नील नहीं टिक सका, इसलिए उसकी खेती बंद करनी पड़ी। सरकार ने उसकी सहायता के लिए अनेक योजनाएं लागू करने का प्रयत्न किया। कृषि विभाग तथा सहकारिता विभाग स्थापित किये गये। एक शोध संस्थान प्रारंभ किया गया, आदर्श कृषि एवं पशुपालन फार्म खोले गये, कृषि उपज तथा उपकरणों और पशुओं की प्रदर्शनियां आयोजित की गयीं। किंतु उच्च वर्ग के अधिकारियों की उदासीनता तथा नीची श्रेणी के अधिकारियों की अयोग्यता और बेईमानी के कारण गरीब किसान इनसे अधिक लाभ नहीं उठा सका। नये तरीके दूर गांवों तक ले जाने, अशिक्षित पुराने फैशन के किसानों को उन्हें अपनाने के लिए प्रेरित करने के लिए मिशनरी उत्साह एवं निस्वार्थ सेवा की जो आवश्यकता थी वे विदेशी सरकार और उसके कर्मचारियों की क्षमता के बाहर थे। जहां तक मालगुजारों का संबंध था, जो कई प्रांतों में किसान और सरकार के बीच संबंध बनाये हुये थे, एक वर्ग के रूप में उन्होंने अपने किरायेदारों की सहायता या प्रोत्साहन के लिए उंगली तक नहीं हिलाई। इस तरह गरीब किसान, नयी परिस्थितियों से घिरा हुआ और मिल के ऊपर और नीचे के पत्थर समान, मालगुजार और साहूकार के बीच दबा हुआ, भयानक संकट में पहुंच गया था। कृषि की मंदी के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परिणामों ने देश के सामान्य आर्थिक स्तर को नीचे कर दिया तथा राजनैतिक अशांति को बढ़ा दिया।

जिस तरह औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति ने भारतीयों को आधुनिक प्रवृतियों से

अवगत कराया किंतु उन्हें अपनाने के लिए कोई अवसर न देते हुए राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में अव्यवस्था उत्पन्न कर दी उसी प्रकार सांस्कृतिक जीवन में भी उसकी भूमिका निषेधात्मक तथा उलझन करने वाली रही। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने एक महत्वपूर्ण वर्ग के लोगों के बीच निष्क्रिय सामूहिक जीवन में एक आंदोलन की हलचल पैदा कर दी, किंतु आकारहीन एवं उद्देश्यहीन वर्तमान में फंसकर भविष्य के लिए विचारों को कोई निश्चित स्वरूप नहीं दे सके। उन्होंने कुछ सफलता के साथ जर्जर रुढ़िवादिता की जुआड़ी को निकाल फेंकने का प्रयत्न किया किंतु अधिकारियों के प्रति आज्ञाकारिता उनकी प्रकृति में इतनी गहरी थी, कि उपनिवेशवादी अंग्रेजों के जीवन की नकल करने को अपना आदर्श बनाकर, वे और अधिक खराब तरीके की मानसिक गुलामी में घिर गये।

अब हम यह देखें कि किस प्रकार औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति का घातक प्रभाव स्कूल और विश्वविद्यालयीन शिक्षा के माध्यम से प्रयोग में लाया गया, जो एकमात्र माध्यम था जिसके द्वारा ब्रिटिश भारतीय सरकार ने उस संस्कृति को फैलाने का प्रयत्न किया।

जहां तक प्राथमिक शिक्षा का संबंध है, सरकार का उसकी ओर इतना कम ध्यान था कि उसका प्रशासन म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को हस्तांरित कर दिया गया। सरकार का शिक्षा विभाग केवल अध्ययन का पाठ्यक्रम निर्धारित करता था तथा कभी कभी जांच के लिए अधिकारियों को भेजता था। प्राचीन पद्धति में बुनियादी परिवर्तन यह हुआ कि धार्मिक शिक्षा को पाठ्यक्रम से अलग कर दिया गया। भूगोल, इतिहास तथा अन्य कुछ उपयोगी विषय शामिल किये गये और शिक्षकों के प्रशिक्षण की कुछ व्यवस्था की गयी, यद्यपि वह असंतोषजनक थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस परिवर्तन से शिक्षा की उपयोगिता में कुछ सुधार हुआ, किंतु चूंकि प्राथमिक शालाओं के लिए निर्धारित शर्तों ने उनके संचालन का व्यय बढ़ा दिया, जिसकी स्थानीय बोर्ड या निजी संस्थाएं सरलता से पूर्ति नहीं कर सकती थीं। स्कूलों की संख्या में उल्लेखनीय कमी आ गयी। इसके अलावा, स्कूलों के अपर्याप्त समय, शिक्षण के निम्न तरीकों और खराब प्रशासन के कारण, ये सीमित प्रयत्न व्यर्थ गये।

माध्यमिक स्कूलों को दो हानियां सहन करनी पड़ीं। व्यक्तिगत मानसिक झुकाव की ओर ध्यान दिए बिना विशुद्ध साहित्यिक ढंग का पाठ्यक्रम बनाया गया था। इससे अधिक खतरनाक यह था कि अंग्रेजी को शिक्षण का माध्यम बनाया गया। बच्चे सात या आठ वर्ष की उम्र तक पर्याप्त अंग्रेजी सीख लें जिससे सभी विषय उस माध्यम से सीख सकें। इस कारण पाठ्यक्रम में अन्य विषयों की कीमत पर, अंग्रेजी को प्रमुख स्थान दिया गया। इस तरह सामान्य बौद्धिक स्तर तथा शैक्षणिक मूल्य नीचे हो गये। यह अवश्य था कि विश्वविद्यालयीन शिक्षा भी अंग्रेजी के माध्यम से दी जाती थी किंतु इस संबंध में अध्ययन के विषयों की पसंदगी का कुछ प्रावधान था। विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़ाने के बहुत से बुरे परिणामों में सबसे हानिकर यह था कि पढ़ने वाले की, लिखे या बोले गये

शब्द को, उसके अर्थ के स्पष्ट ज्ञान से संबंधित करने की, आदत समाप्त हो गयी। शताब्दियों से बिना समझे, टिप्पणियों के द्वारा पढ़ना न केवल भारतीयों के लिये बल्कि यथार्थ में समस्त पूर्वी शिक्षा के लिए अभिशाप रहा है। भारत में आधुनिक शिक्षा के शब्दों के धागे से विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति पर दबाव डालते हुए, जिसकी ध्वनि से वे पूरी तरह अपरिचित रहे, स्थिति को अधिक खराब बना दिया। प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा ने जो साहित्यिक शिक्षा की तुलना में बहुत कम मात्रा में थोड़ी थोड़ी करके बांटी गयी, यह बुराई अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट की। फार्मूला दोहराने वाले तोते, लोरी गाने वाले तोतों की अपेक्षा अधिक अशिक्षित रहे।

यदि यह सब होते हुए भी, अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा बहुत से योग्य और बुद्धिमान लोग उत्पन्न हुए तो उसका श्रेय पद्धति को नहीं बल्कि अपवाद के रूप में, ब्रिटिश एवं भारतीय शिक्षकों के व्यक्तिगत गुणों तथा अलग अलग विद्यार्थियों की अधिक कुशाग्र बुद्धि को जाता है। अन्यथा, सामान्य तौर से, वे पश्चिमी शिक्षण संस्थानों में शिक्षित हुए प्राचीन पद्धति के प्राच्य विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थियों के समान थे। दोनों हजम न कर सकने योग्य जानकारी से तृप्त थे। एक मानसिक गुण जिसे ग्रहण किया गया वह निष्क्रिय स्मरण शक्ति थी। प्रतिक्रिया, तर्क निरीक्षण, आलोचना तथा जीवन के लिए, ज्ञान के व्यावहारिक उपयोग की शक्तियों की बहुत कमी थी।

पश्चिमी पद्धति के विश्वविद्यालयों के स्नातक केवल दो मामलों में प्राच्य विद्या संस्थानों के स्नातकों की अपेक्षा अच्छे थे। उनके पास भौतिक और सामाजिक दुनिया के बारे में अधिक अच्छी जानकारी थी और उनसे जिस काम की अपेक्षा की जाती थी, उस बारे में वे अधिक सक्षम होते थे। वे निष्ठापूर्वक बिना कोई प्रश्न उठाये आदेशों का पालन कर सकते थे, ब्रिटिश उच्च अधिकारियों के निर्देशों का पालन कर सकते थे, और बिना निर्णय इच्छा तथा प्रेरणा के सभी कार्य यंत्रवत कर सकते थे। नौकरी के बाजार में उनकी मांग थी और भारतीय स्तर की दृष्टि से वे अच्छे मूल्य पर बेचे जाते थे। जो सरकारी नौकरी में नहीं लिये जा सकते थे वे कानून तथा कुछ अन्य स्वतंत्र व्यवसायों में संलग्न हो जाते थे। चूंकि विश्वविद्यालयीन स्नातकों की संख्या में वृद्धि हुई, इन व्यवसायों में भी, विशेषकर कानून के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रतिस्पर्धा होने लगीं और वे अधिक संख्या में बेकारी के शिकार बनने लगे।

ऐसे थे आधुनिक युग तथा औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति के प्रणेता जिनके प्रारब्ध में दूसरों के मन को पश्चिम के नये प्रकाश से प्रकाशित करना था। न्याय संगत ढंग से यह कहा जाना चाहिए कि उन्होंने उस सबकी ईमानदारी से नकल करने का प्रयत्न किया जिसे वे अंग्रेजी जीवन पद्धति समझते थे। यह उनकी गलती नहीं थी बल्कि उनकी शिक्षा की गलती थी, जिसने उन्हें वास्तविकता की सही समझ पर आधारित, बुद्धिमतापूर्वक नकल करने के योग्य भी नहीं बनाया, और उन्होंने अंग्रेजी चरित्र के संबंध में निरर्थक विचार बना लिए। उन्होंने देखा कि अंग्रेज धार्मिक मूल्यों के बाह्य रूप की

अपेक्षा भौतिक मूल्यों को अधिक महत्व देते हैं अतः भौतिकवादी तथा स्वतंत्र विचारक का अनुकरण किया, यह महसूस न करते हुए कि स्पष्ट भौतिकवाद तथा अंग्रेजों की धार्मिक उदासीनता, गहरे धार्मिक और नैतिक पुरातनवाद का एक नया रूप था। इसी तरह उन्होंने अंग्रेजों के स्वस्थ व्यक्तिवाद को अहंवाद, धन प्रेम के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण व्यावहारिकता के रूप में गलत समझा। यदि उनके अंग्रेजी सुलेख ने क्रिश्चियनीटी का बढ़ता हुआ आध्यात्मिक प्रभाव बहुत कुछ खो दिया था तो इस कमी की पूर्ति, कुछ अंशों में, उनके राष्ट्र के लिए नैतिक तथा सौंदर्यपरक प्रेम के प्रभाव तथा उनकी कला, कविता और साहित्य के द्वारा कर ली गयी थी। किंतु बेचारे नकलचियों ने अपने सभी नौबंध खो दिए थे, क्योंकि वे बहते हुए न केवल धर्म और नैतिकता बल्कि अपनी कला और साहित्य, अपनी मातृभूमि तथा अपने लोगों से भी कट गये थे।

इंग्लैंड में शिक्षित भारतीयों को भी पाश्चात्य कला की बहुत कम समझ थी और जो भारत में शिक्षित हुए, उन्हें उसकी बिल्कुल कोई कल्पना भी नहीं थी। कलात्मक रुचि केवल कलाकारों तथा कला पारखियों के समूह के साथ संपर्क के द्वारा ग्रहण की जा सकती है। भारत में ऐसे लोगों का कोई समूह नहीं था। इंग्लैंड में वे भारतीय विद्यार्थियों की पहुंच के बाहर थे।

जहां तक अंग्रेजी साहित्य का संबंध है, इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने अपने स्कूल और विश्वविद्यालयीन जीवन का बहुत सा भाग कुछ चुनी हुई कृतियों के अध्ययन में बिताया किंतु अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद अधिकांश ने साहित्यिक महत्व की पुस्तकों को कभी नहीं छुआ और उनका पढ़ना मुख्य रूप से सामाजिक उपन्यास या जासूसी कहानियों तक ही सीमित रहा। जिस तरह के व्यक्तियों की हम चर्चा कर रहे हैं उनमें से शायद ही कोई अंग्रेजी साहित्य की आत्मा में गहरायी से गये हों, विशेषकर कविता में, शायद ही लेखक के साथ आनंद के रोमांच या मनुष्यों के सुख दुख में दुख की कसक को अनुभव किया हो। संक्षेप में भारतीय मस्तिष्क ने साधारणतया अंग्रेजी विचारों और भावनाओं की केवल बाहरी सतह को छुआ और उसमें से रंगहीन, रसहीन, स्वादहीन अहम् के सिवा कुछ नहीं पाया।

स्पष्ट है कि ये औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति के वाहक जो अंग्रेजी भाषा में निहित बौद्धिक एवं सौंदर्यमय भंडार का आनंद या लाभ नहीं उठा सके, वे उसमें अपना कोई योगदान करने में भी सक्षम नहीं थे। अंग्रेजी में कुछ मूल्यवान लेखा न केवल उन भारतीयों द्वारा किया गया, जिनका मस्तिष्क मूलतः पारंपरिक प्राच्य शिक्षा में प्रशिक्षित हुआ, और बाद में उन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन किया। उन्होंने भारतीय दर्शन, धर्म, विधि, इतिहास और शिल्पकला पर अंग्रेजी और अपनी स्वयं की भाषा में पुस्तकें लिखीं। उन्होंने अपनी कला और साहित्य का नयी परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित किया और उसे नये सांचों में ढाला।

उनके मार्गदर्शन में देशी भाषाओं का साहित्य विशुद्ध कल्पना के क्षेत्र से वास्तविक जीवन के अवलोकन और व्याख्या की ओर मोड़ा गया। भारतीय भाषाओं में नाटकों के पुनरुत्थान तथा उपन्यासों के प्रारंभ से, वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ वास्तविकता की विविधताओं के रूप में जीवन की अवधारणा तथा मनुष्य को उसके भौतिक और सामाजिक वातावरण की व्यवस्था में यथार्थ रूप में स्वाभाविक रंगों में चित्रित करने की कला, जो पुरातन युग में थी किंतु मध्यकालीन युग में खो गयी थी, भारतीय मस्तिष्क में अधिक व्यापक और उन्नत अवस्था में पुनः वापिस आयी। भारतीय वास्तुकला में पश्चिमी प्रभाव से स्थान का सदुपयोग आया, विशेषकर सीधी रेखाओं के प्रयोग तथा आधुनिक स्वास्थ्य विभाग को ध्यान में रखने के कारण। संगीत में स्वर माधुर्य के साथ स्वर संगम का संयोग तथा चित्रांकन में परिदृश्य और सभ्यता पर जोर दिये जाने से, पश्चिमी प्रभाव स्पष्ट दिखने लगा। इसके अतिरिक्त, पश्चिमी प्रभाव ने जो संपूर्ण रूप में स्वस्थ था और जिसने यद्यपि जीवन की भव्यता और सौंदर्य में नहीं किंतु क्षमता में वृद्धि की थी, दैनिक उपयोग की वस्तुओं, जैसे फर्नीचर, पोशाक और भोजन में बहुत से सुधार किए।

जैसाकि हमने बताया, इसमें से अधिकांश उनका कार्य था, जिनकी शिक्षा प्राच्य शिक्षा की नींव पर आधारित थी। जो इस काल में पूरी तरह इंग्लिश स्कूलों और कालेजों में शिक्षित हुए, उनका ज्ञान के प्रसारण, जीवन की व्याख्या या सौंदर्य रचना में, बहुत कम योगदान रहा। उनके उद्‌गार यदि कुछ थे तो वे प्रमुख रूप से समाचार पत्रों तथा भारतीय निर्देशन की अंग्रेजी पत्रिकाओं में लेखों के प्रकाशन तक ही सीमित रहे। केवल कुछेक को ही एंग्लो-इंडियन समाचार पत्रों द्वारा स्वीकृत किये जाने का प्रतीक के रूप में सम्मान प्राप्त था। उनके शब्दाडंबर, भ्रमित चिंतन, प्रतिबद्धलेखन, गलत व्याकरण तथा मुहावरों ने उन्हें अंग्रेजों की हंसी का पात्र बना दिया था। उनकी और उनकी बाबू अंग्रेजी की विद्रूपताएं काल्पनिक नामों से, जैसे बाबू जबरजी बी० ए०, या बाबू पिचेलाल एम० ए०, अक्सर एंग्लो-इंडियन पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं।

संक्षेप में, औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक आधार खोखला और कमजोर था। इसके बाद भी उस पर बना सामाजिक ढांचा पहली दृष्टि में, वास्तविक अंग्रेजी संस्कृति की राजकीय इमारत की भ्रामक समानता लिए हुए, भव्य दिखता था। भारतीय साहब जो पोशाक पहनते थे, वह अंग्रेजी पोशाक के समान दिखती थी। एक दूसरे से अंग्रेजी में तथा नौकरों या अन्य देशवासियों से कबूतर अंग्रेजी में बोलते थे। संपन्न लोग अंग्रेजी शैली में सजे हुए बंगलों में रहते थे। टेबिलों पर परोसा गया अंग्रेजी खाना, आराम रहित कुर्सियों में बैठकर तथा विशेष चाकू-छुरियों का उपयोग कर खाते थे। वास्तविक साहबों के क्लबों की ओर लालसाभरी नजरों से देखते हुए वे अपने सांत्वना क्लबों में बिलियर्ड, टेनिस तथा ताश के पत्ते खेलते थे। अधिक विमुक्त होकर योरोपियन शराब से और यदि बराबरी का स्वच्छंद साथी पा गये तो योरोपियन

नाच से वे अपना मनोरंजन करते थे। व्यवहार, चलने फिरने तथा भावभंगिमा में वे श्रमपूर्वक अंग्रेजी शिष्टाचार पालन करने का प्रयत्न करते थे।

देशी साहबों द्वारा बोली जाने वाली अंग्रेजी, लिखी जाने वाली अंग्रेजी से किसी रूप में कम नहीं, बल्कि अधिक हास्यास्पद होती थी। लिखने में उनकी गलतियां व्याकरण तथा शैली तक ही सीमित रहती थीं किंतु संभाषण में उच्चारण और लहजे की अतिरिक्त गलतियां हास्यास्पद प्रभाव को और अधिक गहरा बना देती थीं। विशेषकर जब ठीक ठीक अंग्रेजी लाने के व्यर्थ प्रयत्न में वे बोलने के अपने अवयवों पर जोर देते तो विचित्र ध्वनियां उत्पन्न होतीं जो कभी कभी सुनने वालों की समझ को भ्रमित कर देतीं। उनकी अंग्रेजी पोशाक अक्सर दिखावटी सामान के द्वारा अनुपयुक्त डिजाइन में गलत फिटिंग की बनायी जाती और इंग्लिश पोशाकों से बहुत कम समानता होती जो अपनी सुंदर काट एवं आरामदायक फिटिंग के लिए सुप्रसिद्ध हैं। डिजाइन संतुलन तथा रंग या अवसर के अनुसार पोशाक की उपयुक्तता का उन्हें जरा भी ज्ञान नहीं था। उनका एकमात्र मार्गदर्शक देशी बैरा अंग्रेजी नौकर का भारतीय संस्करण था। उनके बंगले बरांडे से घिरे बैरक के समान बड़े कमरे होते थे। यह शैली, ब्रिटिश भारतीय सरकार के भवन विभाग सार्वजनिक निर्माण विभाग, द्वारा तैयार की गयी थी, चेतना में आराम देने के उद्देश्य से और अचेतन में वास्तुकला सौंदर्य से बचने के लिए और उसे पी० डब्ल्यू० डी० शैली के ध्वनि अनुकरणात्मक नाम से जाना जाता था। किंतु वह चेतन की अपेक्षा अचेतन उद्देश्य में अधिक सफल रहा। इन बंगलों में फर्नीचर उनके निर्माण के डिजाइन की दृष्टि से उसी प्रकार निराशाजनक एवं तड़क भड़क रहित लगा। औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति का सहन करने योग्य एकमात्र तत्व था उनका भोजन, अंग्रेजी और भारतीय स्वाद का एक सुखद मेल किंतु अंग्रेजी टेबिल के व्यवहार के पालन करने के प्रयत्न के कारण होने वाले खिंचाव से उसका बहुत सा मजा चला जाता।

केवल टेबिल पर के व्यवहार में ही नहीं बल्कि सामाजिक बर्ताव के संपूर्ण सप्तयक में देशी साहब अंग्रेज साहबों का अनुकरण करते थे किंतु व्यवहार चरित्र की बाहरी अभिव्यक्ति है और इसमें वे बुनियादी तौर से अंग्रेज व्यक्तियों से भिन्न थे, उनकी नकल करने में उनके प्रयत्न, अच्छे रूप में गुड़ियों की हलचल के समान होते थे। और अधिक खेदजनक यह था कि कुछ मामलों में यह अंग्रेजी व्यवहार की सतही नकल उनकी नैतिकता को नष्ट कर देती थी। उनके आत्मकेंद्रित तथा अप्रसन्नता के ये गुण अंग्रेजी तौर तरीकों तथा संयम से मेल नहीं खाते थे, वे अक्सर खुली दुर्भावना तथा अकड़ की विकृत स्थिति में आ जाते थे। इसी प्रकार अंग्रेजों के आत्मविश्वास और आत्मबल की नकल, बिना उसकी सीमाओं का ध्यान रखते हुए, उन्हें आक्रामक और अहंकारी बना देती थी। भाग्यवश यह हास्यास्पद अंग्रेजी संस्कृति करीब करीब पूरी तरह पुरुषों तक ही सीमित रही। महिलाएं इससे बहुत कम प्रभावित हुई किंतु जिन्होंने इसे अपनाया, उन्हें और भी अधिक विनाशकारी परिणामों को सहन करना पड़ा। सामाजिक ह्रास के काल में भारतीय

महिला अपने अज्ञान, खराब स्वास्थ्य, सामाजिक बंधनों के कारण दमित स्नायुरोगी बन गयी थी। अब वह अकस्मात उसके सुरक्षित किंतु दमघोटू आश्रयस्थल से खींचकर बाहर जीवन की कठिनाइयों और माया मोह में बिना किसी सुरक्षा के ले जायी गयी जो उसके संतुलन को बनाये रखने में सहायक होती। नयी संस्कृति ने न केवल उसका अलग रहना समाप्त कर दिया, जो तुलनात्मक रूप में अभी हाल की प्रथा थी, बल्कि पुरुष और स्त्री के बीच में पारंपरिक दूरी को भी कम कर दिया, जिसे भारत मे अनंत काल से कायम रखा गया था। यह उसे न केवल समाज में ले आयी, बल्कि उसे क्लब ले गयी, अजनबी व्यक्ति के साथ नाचने के लिए। इस विभक्ति ने खेदजनक प्रतिक्रिया उत्पन्न की; भारतीय साधारणतया पश्चिम से प्रभावित महिलाओं के उदाहरण से सतर्क हुए तथा महिलाओं की स्वतंत्रता एवं यहां तक कि शिक्षा के लिए सुधार आंदोलनों का विरोध किया।

ज्ञान के नये प्रकाश को फैलाने के लिए, इस शिक्षित वर्ग से ब्रिटिश शासकों को बड़ी आशाएं थीं। कम संख्या वाले उच्च एवं मध्यम श्रेणी के लोगों तक ही अपनी शिक्षा नीति को केंद्रित करने को इस तर्क के साथ न्यामसंगत बताया कि नयी शिक्षा क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर छनते हुए जायेगी। किंतु ये आशायें पूर्ण नहीं हुईं। जो ऊपर थे उनके पास मुश्किल से कुछ देने के लिए था और यदि उनके पास कुछ था भी तो प्रेम और सहयोग की भावना से देने की इच्छा की कमी थी। वे न केवल अशिक्षित जन समाज से बल्कि प्राच्य शिक्षा वाले पुराने फैशन के लोगों से पूरी तरह अलग हो गये थे। वे अपने ही लोगों के बीच अजनबी की तरह रहते थे और उसके लिए अभिमान अनुभव करते थे। पूर्व और पश्चिम के बीच अनधिकृत क्षेत्र में वे देशभक्ति की भावनाओं या राष्ट्रीय बंधनों से पीड़ित नहीं थे। जिस बात से वे दु:खी थे वह मात्र यह थी कि अंग्रेजों के समाज में प्रवेश का द्वार उनके लिए बंद था। संक्षेप में अपने देशवासियों के लिए कर्तव्य करने की इच्छा से बहुत दूर रहते हुए वे उससे भिज्ञ भी नहीं थे। वे अपने को पूरी तरह विदेशी शासकों की सेवा में समर्पित किए हुए थे। राष्ट्रीय सेवा, शिक्षा और सुधार का कार्य उन्होंने दूसरों पर छोड़ दिया था।

धन्यवाद शासकीय सत्ता के समर्थन को इसलिए कि यद्यपि औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति ने एक आम संस्कृति की तरह हिंदुस्तानी संस्कृति का स्थान ले लिया था, किंतु उसका प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित था। उसके भक्त वे लोग थे, जिनके उच्च श्रेणी के समाज तक बढ़ने का श्रेय ब्रिटिश सरकार के संरक्षण को था। जिनका शासक वर्ग से सीधे कोई संबंध नहीं था, उनमें से कुछ केवल उस सीमा तक नयी संस्कृति से प्रभावित थे, जहां तक आधुनिक विचारों से संपर्क के द्वारा जीवन का दृष्टिकोण व्यापक बनाना था, और कुछ उसके विरुद्ध ऐसे पूर्वाग्रहों से ग्रस्त थे कि बला समझकर उससे दूर रहते थे। बाद के समूह में रुढ़िवादी धार्मिक नेता और उसके अनुयायी थे।

धार्मिक नेता, विशेषकर मुसलमान समुदाय के, कुछ समय तक नये प्रकार की शिक्षा के विरुद्ध थे और उस पर बंधन लगा दिया था किंतु बाद में अंग्रेजी तथा पश्चिमी

विज्ञान के पढ़ने की अनुमति दे दी गयी और साथ ही पश्चिम के सामाजिक, सांस्कृतिक प्रभाव के प्रति लोगों को आगाह भी कर दिया गया। यथार्थ में हिंदू और मुसलमान धार्मिक नेताओं ने अकबर के समय हिंदुस्तानी संस्कृति की उत्पत्ति को मान्यता नहीं दी थी, क्योंकि वह धर्म पर आधारित नहीं थी। भारत पर अंग्रेजों का अधिकार होने पर धार्मिक समुदाय स्पष्टतः निष्क्रिय हो गये किंतु सतह के नीचे बढ़े हुए असंतोष का लाभ लेते हुए लोगों पर अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए, वे बहुत सक्रिय थे। चूंकि वे अंग्रेजी तथा हिंदुस्तानी संस्कृतियों से समान रूप से असंतुष्ट थे, उन्होंने इतिहास के हजार वर्षों को लांघने का प्रयत्न किया और लोगों को अपने अपने धर्म पर केंद्रित प्राचीन संस्कृति की ओर ले गये। हम अगले अध्याय में देखेंगे कि किस प्रकार इस आंदोलन में हिंदू और मुसलमानों के बीच राजनैतिक और सांस्कृतिक भेद पैदा कर दिया गया।

13. अंग्रेजी संस्कृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया : राजनैतिक एवं सांस्कृतिक विघटन

प्रथम विश्व युद्ध के अंत में नयी राजनैतिक परिस्थितियों ने शिक्षित वर्ग के रुख में कुछ क्रांतिकारी भावनाएं उत्पन्न कर दीं। ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये वादे के अनुसार स्वायत्त शासन प्राप्त करने की आशाओं के प्रति निराश होकर, वे अपनी भौतिक एवं बौद्धिक पराधीनता के प्रति सजग हो गये। इसलिए वे धार्मिक समुदायों तथा आम जनता की ओर मुड़े, जिनसे उन्होंने अपने को अलग कर लिया था और उनके साथ होकर विदेशी शासकों के विरोध का एक समान ध्येय बना लिया।

रुख में अचानक परिवर्तन कुछ अंशों में केवल 1919 के सुधार कानून से मोह भंग और अप्रसन्नता के कारण हुआ। अधिक शक्तिशाली तथ्य था आर्थिक मंदी, जो युद्ध की तेजी के बाद आयी और पहली बार साम्राज्यवादी पूंजीवाद का भद्दा चेहरा भारतीयों के सामने उघड़कर आया। यद्यपि इस मंदी ने लगभग सभी वर्ग के लोगों को प्रभावित किया, किंतु सबसे बड़े भुक्तभोगी नीचे, मध्यम और श्रमिक वर्ग के लोग थे, जो बेकारी के शिकार हुए और किसान, जिन्हें अपनी उपज बहुत कम कीमत पर बेचनी पड़ी। युद्ध के समय बहुत से औद्योगिक कारखाने उभरे, जिनमें से अधिकांश ब्रिटिश पूंजी के द्वारा थे। चूंकि श्रमिक संघ का आंदोलन और श्रम विधान अब भी शैशव अवस्था में था इसलिए श्रमिकों का जो निष्ठुरतापूर्वक शोषण हो रहा था, उसके विरुद्ध कोई सुरक्षा नहीं थी और जब युद्ध की समाप्ति के बाद श्रमिक काम से बाहर हो गये, उनकी राहत के लिए कोई प्रावधान नहीं था। इसी तरह वहां शिक्षित बेकारों की पूरी सेना थी। जहां तक किसानों का संबंध है, उनके कष्ट अनंत थे, क्योंकि उनके विनाश के लिए तीन शक्तियां क्रियाशील थीं—विदेशी प्रतिस्पर्धा, मालगुजारी एवं साहूकार और कभी कभी प्रकृति आवश्यक वर्षा को रोककर या खतरनाक बाढ़ की स्थिति पैदाकर उन्हें संकट में डाल देती थी।

यद्यपि भारतीय जनता की तत्कालीन सरकार के समक्ष निष्ठापूर्वक समर्पित होने की आदत रही है, किंतु दूसरी ओर वे पृथ्वी की सभी बुराइयों के लिए सरकार को उत्तरदायी ठहराते थे। इसलिए मंदी के लिए संपूर्ण दोष उन्होंने विदेशी सरकार पर डाल दिया। इससे नेशनल कांग्रेस के लिए, जिसने शिक्षित वर्ग से सभी ब्रिटिश विरोधी तत्वों को पहले ही आकर्षित कर लिया था, आर्थिक संकट को राजनैतिक असंतोष में बदलने

में कोई कठिनाई नहीं हुयी। इसमें उसे हिंदू और मुसलमान धार्मिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन के नेताओं से सहायता मिली।

ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चे के रूप में इन समान तत्वों को संगठित करने के लिए कांग्रेस को एक नेता की आवश्यकता थी, जो आम जनता तथा शिक्षित वर्ग के लोगों की जरूरतों को समझ सके, जिसका आर्थिक तथा धार्मिक और नैतिक शक्तियों के मूल्यों के प्रति रुझान हो और जो मुसलमानों की न्याय संगत महत्वाकांक्षाओं के प्रति उतनी ही गहरी सहानुभूति रख सके, जितनी हिंदुओं के प्रति हो। भाग्य से उस समय महात्मा गांधी, जो ये सब शर्तें पूरी करते थे, भारत के राजनैतिक क्षितिज पर अवतरित हुए। वह उनके व्यक्तित्व का आकर्षण था, जिसने कांग्रेस में सभी वर्ग और समुदाय के लोगों को खींचा तथा उनके नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रभाव, जिसने उन्हें एक समान ध्येय, विदेशी सत्ता से मुक्ति के लिए प्रेरित किया।

राजनैतिक अभियान में, जो महात्मा गांधी के नेतृत्व में नेशनल कांग्रेस ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रारंभ किया, 1919 के रौलट एक्ट को निरस्त करने के विरुद्ध विद्रोह था। इन कानूनों में ब्रिटिश भारतीय सरकार की युद्धकाल की दमनात्मक नीतियों को केवल कायम रखना ही नहीं,बल्कि उन्हें युद्ध के बहुत बाद गहरा बनाने का प्रावधान भी था और स्पष्ट रूप से स्वतंत्रता आंदोलन को मोड़ने का उद्देश्य था। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह सभा स्थापित कर राष्ट्रीय स्तर पर सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम के साथ चुनौती को स्वीकार किया। सरकार ने अमृतसर में जलियांवाला बाग में शांतिपूर्ण विरोध सभा पर गोली चलायी तथा बाद में संपूर्ण पंजाब में मार्शल लॉ लागू कर आंदोलन को दबाया। अमृतसर में गोलियों के शिकार हिंदू, मुसलमान और सिखों के खून ने, इंडियन नेशनल कांग्रेस के झंडे के नीचे, तीनों संप्रदायों को, मित्रता के पवित्र बंधन में बांध दिया।

मध्य पूर्व में ब्रिटिश सरकार की नीतियों का भारतीय मुसलमानों ने कड़ाई से विरोध किया, जहां तुर्की साम्राज्य की सदस्यता समाप्त कर दी गयी थी, और जहां इस तरह से गठित नये राज्य तथा अन्य मुस्लिम राज्य राजनैतिक चेस-बोर्ड पर प्यादे के समान उपयोग में लाये जा रहे थे। इसलिए उन्होंने आंशिक रूप में धार्मिक संगठन बनाया खिलाफत कमेटी, जिसने रूढ़िवादी धार्मिक समुदाय मुसलमानों के नये शिक्षित वर्ग के मिलने का एक केंद्र बना दिया। खिलाफत कमेटी ने अब स्वतंत्रता के आंदोलन में नेशनल कांग्रेस के साथ संबद्ध होने का निश्चय किया तथा महात्मा गांधी के अहिंसा एवं असहयोग के कार्यक्रम को अपनाकर आगे बढ़े, जो इस सिद्धांत पर आधारित था कि विदेशी सत्ता केवल शासितों के सहयोग से कायम रह सकती है और जब सहयोग अलग कर लिया जायेगा तब वह धराशायी हो जायेगी।

यह सम्मानजनक लड़ाई जिसमें कानूनों के विरुद्ध संगठित अवरोध निहित था, जिसे भारतीय चेतना में अनुचित मानते थे, संपूर्ण रूप से क्रिया और शब्दों के द्वारा बिना

हिंसा के लड़ाई प्रारंभ की। इसने भारतीय मस्तिष्क को भाग्यवादिता और निराशा से मुक्त किया तथा यह धारणा उत्पन्न की कि बिना हथियारों के शासित जनता अपना आत्मविश्वास और स्वाभिमान कायम रख सकती है और स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न कर सकती है। ऊंचे उठने और नीचे गिरने के क्रम के साथ उसका पहला हिस्सा सात वर्षों तक चला। महात्मा गांधी और अन्य कांग्रेस नेता अनेक वर्षों तक जेलों में रखे गये, किंतु आंदोलन चलता रहा, जब तक कि सरकार ने अपना तरीका नहीं बदला और समाधानकारक नीति नहीं अपनायी।

सन् 1927 में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि सर जान साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन भारत आयेगा, यह मालूम करने के लिए कि क्या भारत देश राजनैतिक सुधार के दूसरे भाग के लिए तैयार है। कांग्रेस ने इस विलंबकारी चालबाजियों का उत्तर, मद्रास सेशन (दिसंबर 1927) में प्रस्ताव पास करके दिया कि उनका ध्येय ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करना है। यदि संभव हो, यदि आवश्यक हो की बात नहीं। स्वतंत्र भारत का संविधान तैयार करने तथा सभी भारतीय राजनैतिक दलों के सम्मेलन में उसे स्वीकृत कराने के लिए, पंडित मोतीलाल नेहरू जी की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गयी।

सन् 1928 में, जब साइमन कमीशन भारत आया, सभी नियमित राजनैतिक दलों द्वारा उसकी अवहेलना की गयी तथा वह केवल निजी व्यक्तियों या विशेष वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले समुदाय के लोगों के सबूत रिकार्ड कर सका। दूसरी ओर नेहरू कमेटी रिपोर्ट, जिसमें ब्रिटिश राष्ट्र मंडल में भारत का एक स्वतंत्र उपनिवेश के रूप में समावेश था, अली बंधुओं के नेतृत्व में बड़ी संख्या में सिर्फ मुसलमानों को छोड़कर, जिन्होंने उसके सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रावधानों का विरोध किया था, सभी दलों के द्वारा मान्य की गयी। दस वर्ष पूर्व लायी गयी सांप्रदायिक सद्भावना का यह अंत था और यद्यपि बहुत से मुसलमान कांग्रेस को समर्थन देते रहे लेकिन एक बड़े समुदाय के लोगों पर विघटनकारी प्रवृतियां हावी हो गयीं। फिर भी कांग्रेस ने कलकत्ता सेशन में नेहरू रिपोर्ट को मान्य किया (दिसंबर 1928), इस प्रावधान के साथ कि यदि एक वर्ष में स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा नहीं दिया गया तो नेहरू रिपोर्ट रद्द मानी जायेगी तथा कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता की अपनी नीति पर वापिस आ जायेगी। चूंकि ब्रिटिश सरकार द्वारा कांग्रेस की मांग की अवहेलना की गयी, उसने 31 दिसंबर, 1929 की मध्य रात्रि पूर्व स्वराज्य के लिए प्रयत्न करने हेतु अपरिवर्तनीय निर्णय लिया। 26 जनवरी, 1930 को स्वतंत्रता के लिए ऐतिहासिक शपथ देश भर में आयोजित सार्वजनिक सभाओं में लाखों लोगों द्वारा ली गयी।

मार्च 1930 में स्वतंत्रता के लिए भारतीय आंदोलन का दूसरा चरण उस कानून को तोड़कर प्रारंभ किया गया, जिसके अंतर्गत बिना सरकारी लाइसेंस के लोगों के द्वारा थोड़ा भी नमक बनाया जाना प्रतिबंधित था। यह विशेष कानून ही क्यों ? सविनय अवज्ञा आंदोलन का आधार बनाया गया, इसका कारण यह था कि नमक पर भारी कर ने उसकी

कीमत बढ़ा दी थी, जिसके कारण सबसे गरीब जनता कष्ट अनुभव कर रही थी। समुद्र के पानी से नमक बनाने के घोषित उद्देश्य को लेकर, महात्मा गांधी की दांडी की प्रसिद्ध पदयात्रा ने, जो काठियावाड़ के समुद्री तट पर स्थित था, संपूर्ण देश के उन कानूनों के उल्लंघन के लिए उत्तेजित किया, जो मूलतः न्यायसंगत नहीं थे और विदेशी कपड़े का त्याग किया जो मुख्य रूप से ब्रिटिश कारखानों से आता था। इस बार आंदोलन पूर्णतया संगठित तथा अनुशासित था। लगभग एक लाख सभी जाति और धर्म के लोग जेल भेजे गये, बहुत से लोग बिना प्रतिरोध के शारीरिक हिंसा के शिकार हुए। बहुत से पुलिस की गोलियों से मर गये।

सन् 1931 के प्रारंभ में कुछ मध्यमार्गी नेताओं ने कांग्रेस और सरकार के बीच एक समझौता संपन्न किया, जिसे गांधी-इरविन पेक्ट के रूप में जाना जाता है। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार से सम्मानजनक शांति के लिए सुलह हेतु लंदन में राउंड-टेबिल-कांफ्रेंस में भाग लिया, किंतु कोई समझौता नहीं हो सका और महात्मा गांधी के भारत लौटने के बाद सविनय अवज्ञा आंदोलन पुनः प्रारंभ किया गया। इस बार सरकार पहले की अपेक्षा और भी निष्ठुर थी। गांधी जी को मिलाकर केवल सभी कांग्रेस नेता ही जेल नहीं भेजे गये बल्कि संपूर्ण भारत में कांग्रेस का पूरा कोष और कांग्रेस नेताओं की निजी पूंजी तथा संपत्ति हस्तगत कर ली गयी। बहुत से स्वतंत्रता संग्राम सैनिकों के लिए, अपना सब कुछ खोने तथा परिवार को भुखमरी में डालने का भय जेल या मृत्यु की अपेक्षा अधिक कष्टप्रद सिद्ध हुआ और इसलिए कालांतर में आंदोलन मृत प्रायः हो गया।

कांग्रेस आंदोलन के अस्थायी पतन का लाभ उठाते हुए ब्रिटिश सरकार ने कुछ अनुकूल लोगों की एक दूसरी राउंड-टेबिल-कांफ्रेंस आयोजित की और राजनैतिक सुधार की योजना तैयार की जो गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के नाम से सन् 1935 में ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा पारित की गयी। इसके अंतर्गत प्रांतों में सभी विभाग तथा केंद्र में उद्योग, व्यापार, रेलवे आदि के विभाग चुने हुए भारतीय मिनिस्टरों को हस्तांतरित करने का प्रावधान किया गया, किंतु अंतिम निर्णय के लिए उसमें वाइसराय और प्रांतीय गवर्नरों के अधिकार सुरक्षित रखे गये। केंद्रीय सरकार ब्रिटिश भारत तथा स्वशासी भारतीय राज्यों की संघ मानी गयी। बाद वाले सदस्यों के 33 प्रतिशत केंद्रीय विधान परिषद् के लोअर चेंबर में और 40 प्रतिशत अपर चेंबर में भेजे जाते थे। सभी शासकों द्वारा नामजद होते थे।

नये कानून के अनुसार 1937 में आम चुनाव संपन्न होने के पूर्व, कांग्रेस द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया गया था और सरकार द्वारा कांग्रेसी नेताओं को मुक्त कर दिया गया। उन्होंने चुनाव लड़ा और बड़ी सफलता प्राप्त की। पांच प्रांतों में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत मिला और शेष प्रांतों में वह सबसे बड़े या दूसरे सबसे बड़े दल के रूप में रही। कुछ माह हिचकिचाने के बाद, उसने प्रांतों में केंद्र की प्रतिक्रियावादी

योजनाओं का विरोध करते हुए सुधार का निश्चय किया। बहुमत के दल के रूप में उसने पांच प्रांतों में अपने मंत्रिमंडल बनाये और दो में संयुक्त मंत्रिमंडल।

नेशनल कांग्रेस के इतिहास में सीमित अधिकारों के साथ सरकार की जिम्मेदारी लेना एक भाग्यशाली घटना थी जिसके मिश्रित परिणाम हुए। एक ओर उसने कांग्रेसी नेताओं को अपनी प्रशासनिक क्षमता सिद्ध करने का अवसर दिया, जिसका उन्होंने बहुत अच्छा उपयोग किया और दस गुना सदस्य बढ़ाते हुए दल प्रभाव बढ़ाया। दूसरी ओर उसने कांग्रेस के पूर्व के स्वतंत्रता और सांप्रदायिक सद्‌भावना के आदर्श को कुछ सीमा तक मोड़ दिया और इस तरह अल्पसंख्यकों विशेषकर मुसलमानों से शत्रुता उत्पन्न हुई। स्पष्टतया कारण यह था कि बड़ी संख्या में नये सदस्य, जिनमें से बहुत से कांग्रेस के बुनियादी सिद्धांतों से पूरी तरह सहमत नहीं थे, किंतु सत्ता की चमक से आकर्षित हुए थे, पुराने तत्वों को समाप्त कर दिया और रूढ़िवादिता तथा सांप्रदायिकता का रूप देते हुए प्रशंसनीय ढंग से दल का सामान्य रंग बदल दिया। काफी संख्या में पूर्व के सदस्य अलग हो गये। कुछ वामपंथी दल में शामिल हुए और अधिकांश मुसलमान मुस्लिम-लीग में चले गये।

लीग, जो अनेक वर्षों तक शैडो पार्टी के रूप में अस्तित्व में रही, जिसका महत्वपूर्ण तत्व यह था कि मि० मुहम्मद अली जिन्ना उसके आजीवन अध्यक्ष थे, ने बाद में कांग्रेस के विरुद्ध प्रतिक्रिया का पूरा लाभ उठाया, जो आंशिक रूप से उनकी नयी सांप्रदायिक प्रवृति के कारण था किंतु मुख्य रूप से घातक जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के कारण हुआ, जिस पर कुछ प्रांतों में मध्यम श्रेणी के मुसलमान अपनी जीविका के लिए निर्भर थे। शीघ्र पूर्ण रूप में, सुगठित राजनैतिक पार्टी की तरह विकसित होते हुए तथा ब्रिटिश सरकार एवं देश के प्रतिक्रियावादी तत्वों से समर्थन मिलने पर मुस्लिम लीग ने एक बड़े वर्ग के मुसलमानों में पृथकतावादी प्रवृतियां भर दीं, जब तक कि उसने पाकिस्तान की मांग का रूप नहीं ले लिया, अर्थात बहुसंख्यक मुसलमान प्रांतों का एक अलग स्वतंत्र राष्ट्र निर्मित करना। हम आगे प्रदर्शित करेंगे कि यह सांस्कृतिक विघटन का राजनैतिक परिणाम था, जो एक लंबे समय से क्रियाशील था, तथा अस्थायी रूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के लिए उत्साह के द्वारा छाया में दब गया था।

सन् 1939 में कांग्रेस पार्टी और उसकी प्रांतीय सरकारों को इस समस्या का सामना करना पड़ा कि द्वितीय विश्व युद्ध के संबंध में क्या रुख हो। सभी कांग्रेसी नाजीवाद की भर्त्सना करते तथा प्रजातांत्रिक उद्देश्य के प्रति सहानुभूति दर्शाने में एक मत थे किंतु ब्रिटिश सरकार के युद्ध प्रयत्नों में सहयोग देने के प्रश्न तथा ऐसे सहयोग की शर्तों के संबंध में अलग अलग मत थे। महात्मा गांधी का मत था कि कांग्रेस अपनी राजनैतिक मांगों को स्थगित कर दे, सच्चे हृदय से ब्रिटेन और उसके मित्र देशों को नैतिक समर्थन प्रदान करे, किंतु युद्ध प्रयत्नों में व्यावहारिक रूप से हिस्सा न ले, क्योंकि वह अहिंसा की आत्मा के विरुद्ध था। कुछ ने सोचा कि कांग्रेस को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए।

अपनी मांग के संबंध में दबाव डालकर और यदि वे मान ली जाती हैं तो संबंधित ध्येय में केवल नैतिक नहीं, पूरा व्यावहारिक समर्थन दिया जाना चाहिए, क्योंकि कांग्रेस ने अहिंसा स्वीकार की है, केवल आंतरिक राजनैतिक संघर्ष के लिए एक नीति के रूप में, एक पंथ के रूप में नहीं कि जिसका बाहर से आक्रमण की स्थिति में भी पालन करना होता है। अधिकांश सदस्य इन दो दृष्टिकोणों के बीच घूमते रहे।

इस कठिन स्थिति को समाप्त करने के लिए, सभी प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया, किंतु पार्टी कोई कदम उठाने से दूर रही, जो सरकार को धर्म संकट में डालता या युद्ध में हस्तक्षेप करता। बाद में, महात्मा गांधी की सलाह के विरुद्ध, उसने ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने का प्रस्ताव रखा, बशर्ते कि एक काम चलाऊ राष्ट्रीय सरकार तत्काल स्थापित हो जाती और भारत को युद्ध के बाद पूर्ण स्वराज्य का समर्थन मिलता। इस प्रस्ताव पर सरकार द्वारा कोई ध्यान नहीं दिया गया और इसी प्रकार युद्ध के समय नागरिक स्वतंत्रता के दमन के विरुद्ध प्रतिशोध के लिए, महात्मा गांधी द्वारा नये रूप में चलाया गया प्रतीकात्मक व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन था।

सन् 1942 के प्रारंभ में, जब जापान ने बर्मा और मलाया पर अधिकार कर लिया था और भारत पर आक्रमण की धमकी दे रहा था, ब्रिटिश सरकार ने प्रेसीडेंट रुजवेल्ट के लगातार सुझाव पर सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत के राजनैतिक दलों से, रक्षा विभाग को छोड़कर केंद्रीय शासन के सभी विभाग, प्रमुख राजनैतिक दलों से चुने गये भारतीय मंत्रियों को हस्तांतरित करने के संबंध में वार्ता करने हेतु भेजा। युद्ध के बाद स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा दिये जाने का आश्वासन दिया गया। इस प्रस्ताव ने, ऐसा प्रतीत होता है कि कांग्रेस और मुस्लिम-लीग पर प्रभाव डाला, किंतु उसका महात्मा गांधी द्वारा विरोध किया गया और अंततोगत्वा सभी के द्वारा निरस्त कर दिया गया।

महात्मा गांधी का विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार ऐसा नहीं सोचती कि वह जापानी आक्रमण से भारत को बचा सकती है और तर्क प्रस्तुत किया कि यदि अंग्रेज पीछे हटते हैं तो जापानी आक्रमण करना बंद कर देंगे। इसके बाद भी यदि वे आक्रमण करते हैं, तो स्वतंत्रता की भावना से उत्तेजित भारतीय उनसे सहयोग अस्वीकार कर, रोक सकेंगे।

उन्होंने कांग्रेस को समझाया कि ऐसा प्रस्ताव पारित करें (अगस्त 1942) कि ब्रिटिश सरकार से भारत छोड़ने की मांग की जाये, और यदि वे इंकार करते हैं तो देश भर में सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ किया जाये। महात्मा गांधी वाइसराय से मिलते और बहस करते, इसके पूर्व ही उन्हें और सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। उत्तरदायी नेताओं के निर्देश से वंचित और निष्ठावान, देशभक्त, किंतु युवा और नेतृत्व आकांक्षी अविवेकी वामपंथियों द्वारा, उत्तेजित देश में एक कोने से दूसरे कोने तक आग भड़का दी गयी। खेदजनक सामूहिक दंगे सरकार द्वारा और भी अधिक बेरहमी से दबा दिए गये और भारत में श्मशान की शांति फैल गयी।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश पार्लियामेंट ने, लेबर सरकार के

नेतृत्व में, भारतीय समस्याओं के उपयुक्त समाधान हेतु आवश्यक प्रयत्न करने के लिये राजपुरुषों के समान उदार हृदय वाली नीति अपनायी। ब्रिटिश केबिनेट मिशन को जिसमें सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया, लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टेफोर्ड क्रिप्स और एलेक्जेंडर शामिल थे, भारत भेजा गया कि वे प्रमुख राजनैतिक दलों से विचार विमर्श कर, सत्ता के हस्तांतरण की एक मान्य योजना तैयार करें। बहुत शीघ्र यह प्रकट हुआ कि, केवल मुस्लिम लीग की अलग राज्य की मांग ही समस्या के समाधान के मार्ग में वास्तविक रोड़ा है, जिससे कांग्रेस की अखंड स्वतंत्र भारत की भावना का सामंजस्य स्थापित करना होगा। केबिनेट मिशन ने भारतीय नेताओं के समक्ष जो समझौते का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, वह तय था कि मुसलमान तथा हिंदू बहुमत वाले प्रांतों के स्वायत्त समुदायों को एक अस्थायी शिथिल संघ में सम्मिलित कर दिया जाये और तुरंत ब्रिटिश स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा दे दिया जाये, जिसमें अवसान किए जाने के अधिकार भी निहित हों। प्रस्ताव का पहले अच्छा स्वागत हुआ और समझौते की संभावना प्रकट हुई, किंतु विघटनकारी प्रवृत्तियों ने जो विगत दस वर्षों में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रोत्साहित की गयी थीं, देश में न्यस्त स्वार्थों ने घृणा के निरंतर चलने वाले अभियान के द्वारा लगातार खूनी सांप्रदायिक दंगों की शृंखला प्रारंभ कर दी थी और आपसी कड़ुआपन तथा परस्पर अविश्वास उत्पन्न हो गया था, जिसने तर्क संगत विचार किया जाना असंभव बना दिया। स्वाभाविक है कि देश के अनेक भागों में हिंसक संघर्षों के बीच चलायी गयी समझौता वार्ताएं असफल हो गयीं। चूंकि मामले चरम सीमा पर पहुंच रहे थे, जो ब्रिटिश सरकार को शांति बनाये रखने के लिए भारत में बने रहने का उपयुक्त बहाना देते थे। अतः विभाजन का कड़ुआ घूंट पीना पड़ा और यह निश्चय किया गया कि भारत को दो भागों में विभाजित कर दिया जाये—एक पाकिस्तान के नाम से, जिसमें पश्चिमी पंजाब, उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत, बलोचिस्तान, सिंध और पूर्वी बंगाल शामिल हों और दूसरे में देश का बचा हुआ भाग शामिल रहे। दो भाग, स्वतंत्र ब्रिटिश उपनिवेश, 14 और 15 अगस्त, 1947 को क्रमशः घोषित किये गये। इस तरह आजादी का बड़ा स्वप्न जो भारत एक लंबे समय से देख रहा था अंत में साकार हुआ। वह जीवन के बंधन से मुक्त हो गया किंतु एकीकृत अंगों के साथ नहीं क्योंकि उसे अपने दो अंग खोने पड़े। एक संविधान तैयार किया गया और सन् 1949 के अंत में संविधान सभा द्वारा पारित किया गया और 26 जनवरी, 1950 से लागू हुआ। भारत एक स्वतंत्र प्रजातांत्रिक गणराज्य बन गया किंतु तब से ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के माध्यम से अनौपचारिक संबंध बने हुए हैं।

2

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की अंतिम अवस्था के संक्षिप्त सर्वेक्षण में हमने देखा कि

बहुसंख्यक समुदाय और अल्प संख्यकों के सबसे बड़े समुदाय के बीच संबंध तीन स्थितियों से गुजरे। प्रथम 1918 और 1928 के बीच लगभग पूर्ण राजनैतिक एकता का समय था, दूसरा 1928 और 1937 के बीच बढ़ते हुए तनाव का तथा तीसरा कांग्रेस द्वारा सात प्रांतों में सत्ता प्राप्त करने के समय से, मुस्लिम लीग जो बहुसंख्या में उच्च वर्ग तथा मध्यम वर्ग के मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती थी और राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसे बिना किसी तर्क के हिंदू संगठन निरुपित किया गया, के बीच खुले विद्रोह का समय था।

हमने पूर्व में ही स्वीकार किया है कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच अलग अलग मार्ग बन जाने का कारण मुख्य रूप से कांग्रेस की भूमि नीति का वह दबाव था, जो भारत के महत्वपूर्ण प्रांतों के प्रायः सभी उच्च और मध्यम वर्ग के मुसलमानों के न्यस्त स्वार्थों को प्रभावित करने के उद्देश्य से था। किंतु यह तथ्य कि लीग उसके साथ बड़ी संख्या में गरीब वर्ग के मुसलमानों को साथ लेकर चल सकी, जिनके आर्थिक हितों को विघटन की नीति से हानि होने की संभावना थी, इस आर्थिक सिद्धांत के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि धार्मिक पूर्वाग्रह विद्यमान थे किंतु मध्यपूर्व के मुस्लिम देशों से तुलना करने पर प्रकट होता है कि मात्र धार्मिक पूर्वाग्रह मुसलमानों को गैर मुसलमानों के साथ सद्भावनापूर्वक रहने और काम से रोकने के लिए पर्याप्त नहीं थे।

हिंदू और मुसलमानों के बीच मनमुटाव, जो भारत के विभाजन का परिणाम लाया, उसकी जड़ें हिंदू और मुसलमान समुदायों के सुधार आंदोलनों की सांस्कृतिक विघटनकारी प्रवृतियों में थीं। ये आंदोलन मुगल साम्राज्य के पतन के काल में प्रारंभ हुए थे, इस उद्देश्य से कि लोगों को नैतिक विषाद में से बाहर निकाला जाये, जो कि आंशिक रूप से राजनैतिक अराजकता का कारण और कुछ अंशों में प्रभाव था। बाद में पश्चिमी संस्कृति, जो व्यापारिक साहसिक व्यक्तियों द्वारा भारत में लायी गयी थी, के विरुद्ध प्रतिक्रिया में उन्होंने शीघ्रता की। बाहरवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में, औपनिवेशिक अंग्रेजी संस्कृति के बढ़ते हुये प्रभाव ने, प्रमुख हिंदुओं और मुसलमानों को सचेत किया। उनमें से कुछ, विशेषकर के मुस्लिम मौलानाओं ने सही सोचा कि अंग्रेजी संस्कृति के प्रभाव के विरुद्ध, उनकी अवरोधात्मक नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति भरने के लिए, उन्हें उनके धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना के स्रोतों के पीछे देखना चाहिए और इससे शक्ति और प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। इसमें वे सफल हुए किंतु मन को दूर प्राचीन में ले जाने से अवांछित परिणाम सामने आये कि निकट भूतकाल और उसकी मूल्यवान परंपराओं, हिंदुस्तानी संस्कृति का उनकी दृष्टि में महत्व खो गया। कालांतर में, आम संस्कृति जो हिंदू और मुस्लिम तत्वों के मेल से, मुगल साम्राज्य के बढ़ने की अवस्था में उत्पन्न हुयी थी, हिंदू मुसलमानों के छोटे समूहों को छोड़कर बाकी सबके द्वारा त्याग दी गयी थी। हम संक्षेप में इन सुधार और पुनरुत्थान के आंदोलनों का सर्वेक्षण करेंगे, जिससे हमें भारत में वर्तमान संस्कृति की स्थिति को समझने में सहायता मिलेगी।

हमने देखा कि जब मुसलमान भारत आये उनके सामान्य सांस्कृतिक तथा धार्मिक जीवन इस्लाम द्वारा निर्धारित मार्ग से काफी अलग हट गये थे । यह अंतर क्रमशः बढ़ता गया, मुख्यतः मुसलमान मौलानाओं के पतन के कारण, जिनमें से अधिकांश दरबारी बन गये थे और जिन्होंने धन और सत्ता के लिये षड्यंत्र और चालबाजी की तथा एक धार्मिक शिक्षक एवं आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में अपने कर्तव्य की पूरी तरह अवहेलना की ।

मुसलमान समाज की धार्मिक और नैतिक चेतना को पुनः जगाने के लिए पहला प्रयत्न 17 वीं शताब्दी के प्रारंभ में दो मुसलमान मौलानाओं, जो राज दरबार के प्रभाव से स्वतंत्र थे, के द्वारा किया गया । सरहिंद के मौलाना शेख अहमद (1564-1624) ने मुसलमानों के रहस्यवाद को, अद्वैतवाद के मार्ग से मोड़ने का प्रयत्न किया जो अक्सर अकर्मण्यता तथा निष्क्रियता और शास्त्र विरुद्ध विश्वासों की ओर ले जाते हैं । उन्होंने आम जनता तथा राज दरबार के कुलीन व्यक्तियों को इस्लाम शरिया का पालन करते हुए, संयमी जीवन जीने के लिए प्रेरित किया । उन्होंने दरबार के कानूनों को चुनौती देते हुए, जिसके अनुसार उन्हें सम्राट जहांगीर के समक्ष अपने को साष्टाग दंडवत् करना चाहिए था, अपनी स्वतंत्रता प्रदर्शित की, यद्यपि इसके लिए उन्हें जेल जाना पड़ा । दिल्ली के मौलाना शाह अब्दुल हक (1521-1642) पैगंबर की परंपराओं के अध्ययन को लोकप्रिय बनाते हुए भारतीय मुसलमानों को इस्लाम की शिक्षा के आधार के निकट लाये ।

किंतु सुन्नी मुसलमानों के धार्मिक सुधार आंदोलन को सबसे बड़ी सहायता शाहवली उल्ला और उनके कुटुंब के द्वारा मिली । शाहवली उल्ला ने स्वयं कुरान का विशुद्ध परशियन में अनुवाद किया और कुरान के अध्ययन पर अनेक पुस्तके लिखीं तथा इस तरह मुसलमानों को वापिस इस्लाम के शीर्ष बिंदु तक ले गये । उनका साहित्यिक कार्य उनके ख्याति प्राप्त पुत्रों के द्वारा चालू रखा गया, विशेषकर शाह अब्दुल अजीज द्वारा । उनके द्वारा प्रस्तावित सुधारों के वास्तविक रूप में स्थापना के लिए शाह अब्दुल अजीज के प्रमुख शिष्य मौलाना सैयद अहमद बरेली, उनके दामाद मौलाना अब्दुल हई और उनके भतीजे मौलवी मुहम्मद इस्माइल द्वारा प्रयत्न किये गये । इन तीन युद्ध प्रिय सुधारकों ने हथियारों से लैस स्वयं सेवकों की सेना के सहयोग से पश्चिम पंजाब और उत्तर-पश्चिम सीमांत क्षेत्र सिख सरकार से 1815 में इस उद्देश्य से छीन लिया कि उन्हें आदर्श इस्लाम राज्य में परिवर्तित कर दिया जायेगा, किंतु पठानों के साथ मतभेद ने सुधारकों के प्रभाव को कमजोर बना दिया और कुछ वर्षों बाद वे बालाकोट में सिखों के द्वारा हटा दिये गये । मौलाना सैयद अहमद और मौलवी मुहम्मद युद्ध भूमि में गिर गये और इस्लाम राज्य का अंत हो गया ।

किंतु शाहवली उल्ला एवं उनके पुत्रों द्वारा प्रारंभ किया गया सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलन और अधिक सफल हुआ । मुसलमानों के एक वर्ग ने अपना अंधविश्वास तथा शान शौकत की आदतें छोड़ दीं और इस्लाम के प्रारंभिक समय के समान पवित्र संयमी जीवन बिताने लगे ।

यह अतिनैतिक आंदोलन रूढ़िवादी धर्म में बाधा के कारण और गहन बनाया गया, जो 1857 के बाद पश्चिमी संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण आया। सन् 1868 में स्थापित देवबंद विद्यालय में शिक्षित धार्मिक मत की युवा मुस्लिम पीढ़ी में, अंग्रेजी संस्कृति और सरकार के प्रति कड़वे विरोध की भावना भरी गयी। ननोटा के मौलाना मुहम्मद कासिम शाहवली उल्ला जमात के कुछ अन्य धर्म प्रमुखों ने देवबंद की प्रतिष्ठा एक विद्याध्ययन तथा स्वतंत्रता के केंद्र के रूप में स्थापित की। राजनैतिक स्वतंत्रता की भावना को जो देवबंद के शिक्षकों और विद्यार्थियों के मन में प्रारंभ से रही, मौलाना महमुदुल हसन के प्रभावशाली व्यक्तित्व के प्रभाव से एक आवेग की ज्वाला बन गयी, जिन्हें ब्रिटिश सरकार द्वारा देश निकाला दिया जाकर अनेक वर्षों तक माल्टर में राजनैतिक कैदी के रूप में रखा गया था। स्वतंत्रता आंदोलन के एक दूसरे प्रमुख अग्रणी नेता मौलाना शिब्ली थे। किंतु मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के नेतृत्व में, जिन्होंने नेशनल कांग्रेस से संबंध बनाया और जिन्होंने मुस्लिम लीग द्वारा प्रोत्साहित सांप्रदायिक उन्माद के तूफानी दिनों का सामना किया तथा भयंकर मारकाट में बच गये, मुसलमान धार्मिक समुदाय की, यद्यपि गहरी किंतु अनिश्चित भावनाओं को, निश्चित दिशा और निर्देशन मिला।

देवबंद की स्थापना के कुछ वर्षो बाद एक दूसरे बड़े मुसलमान सुधारक सर सैयद अहमद खान ने, आधुनिक पश्चिमी शिक्षा के लिये अलीगढ़ कालेज की स्थापना की। दोनों संस्थाओं का उद्देश्य मुसलमान समुदाय का सुधार था किंतु दोनों की सुधार की अवधारणाओं में अंतर था। जहां देवबंद का अस्पष्ट, अपरिभाषित, इस्लाम के प्रारंभिक दिनों की स्थिति की ओर लौटने का आदर्श ध्येय था, वहां अलीगढ़ का वर्तमान भौतिक परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का निश्चित यथार्थवादी सीमित उद्देश्य था।

किंतु जब हम अलीगढ़ और उससे संबंधित आंदोलन की बात करते हैं तो हमें सैयद अहमद खान और उनसे संबद्ध निष्ठावान निस्वार्थी सुधारकों के छोटे समुदाय और बड़ी संख्या में उच्च और उच्च मध्य श्रेणी के मुसलमानों, जिनके लिए और जिनके साथ सुधारकों को काम करना पड़ता था, के बीच अंतर करना होगा। सैयद अहमद खान स्वय ऊंची भावना के प्रबुद्ध सुधारक और राजनेता थे, जिनका ध्येय विस्तृत और ऊंचा था। वे भारतीय मस्तिष्क को मध्यकालीन रूढ़िवादिता के प्रभाव से आधुनिक युग के नये प्रकाश में पश्चिमी शिक्षा के माध्यम से लाना चाहते थे तथा पश्चिमी और हिंदुस्तानी संस्कृतियों के अच्छे तत्वों के मेल से नयी संस्कृति की स्थापना करना चाहते थे। राजनीति में उनकी नीति सरकार से सशर्त सहयोग की थी, जिसका भारतीयों के राष्ट्रीय स्वाभिमान से सामंजस्य हो सके।

उनका इंग्लिश स्कूल गाजीपुर में (1864) परशियन स्कूल मुरादाबाद में (1969) और विज्ञान समिति (1863) हिदू मुसलमान दोनों के लिए और दोनों समुदायों के पूर्ण

सहयोग से, संस्थाओं के रूप में स्थापित किये गये थे। किंतु न्यायिक अधिकारी के रूप में, बनारस प्रवास के समय उन्होंने महसूस किया कि एक समुदाय के रूप में हिंदुओं में पुनरुत्थान की गहरी भावना बनी हुई है और वे विशुद्ध हिंदू संस्कृति के लिये आम हिंदुस्तानी संस्कृति छोड़ रहे हैं। इस प्रवृति के प्रतीक के रूप में 1867 में शासकीय कार्यालयों और न्यायालयों से उर्दू हटाने तथा देवनागरी लिपि में साहित्यिक हिंदी स्थापित करने का आंदोलन बनारस में प्रारंभ कर दिया गया था। इस विघटनकारी प्रवृति के प्रति अपने हिंदू मित्रों के बीच आपत्ति प्रकट करने के बाद, जो सार्थक नहीं रही, उनकी निश्चित धारणा बनी कि हिंदू और मुसलमानों के बीच कोई सहयोग संभव नहीं है, और उन्होंने अपनी सुधार की गतिविधियों को मुसलमान समुदाय तक ही सीमित रखने और सरकार से सहायता और सुरक्षा की मांग करने का निश्चय किया।

बालकन प्रायद्वीप और ट्रिपोली में युद्ध के समय जिसमें मुसलमान खिलाफत का केंद्र टर्की शामिल था, ब्रिटिश विरोधी भावनाएं और राष्ट्रीय आजादी के प्रति, अलीगढ़ कालेज के एक बड़ी सख्या में विद्यार्थियों के मन में लगाव पैदा हो गया और वह कालेज अधिकारियों द्वारा सभी प्रकार के कदम उठाये जाने के बाद भी, धीरे धीरे मजबूत होता गया।

यह सामान्य राजनैतिक जागृति का एक अंग था, जिसे हसरत मोहानी के व्यक्तिगत उदाहरण, इकबाल की काव्यात्मक प्रेरणा और मौलाना मुहम्मद अली के खुले आम प्रोत्साहन ने मुसलमानों के आधुनिक शिक्षित वर्ग मे पैदा किया। यह मौलाना महमूदुलहसन, मौलाना शिबली और मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के द्वारा धार्मिक भावना वाले लोगों के बीच पैदा की गयी जागृति के समान ही था। इस घटना से सचेत होकर सरकार ने स्वामिभक्त मुसलमानों के समुदाय को, मुस्लिम-लीग के नाम से राजनैतिक संगठन की स्थापना के द्वारा, इसका प्रतिवाद करने के लिए प्रोत्साहित किया। स्वामिभक्त और राष्ट्रीयतावादी शिक्षित मुसलमानों के बीच का संघर्ष बाद वाले की विजय से समाप्त हुआ, जबकि जिन्ना जो प्रबल राष्ट्रीयतावादी थे, की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग 1916 में नेशनल काग्रेस के साथ समझौते में आयी। बाद में महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जिन्ना और मुस्लिम-लीग के लिए काफी बड़ा कार्यक्रम अपनाया। मौलाना मुहम्मद अली ने राष्ट्रीयतावादी मुसलमानों को अपने नये राजनैतिक संगठन खिलाफत कमेटी में एकत्रित किया। मक्का और मदीना पवित्र शहर तुर्की खिलाफत को वापिस सौंपने के विरोध में स्थापित और शिक्षण सस्था जामिया मिलिया की स्थापना की, जिसमें अलीगढ़ कालेज से निष्कासित राष्ट्रीयतावादी विद्यार्थी और शिक्षक सम्मिलित हुए, किंतु उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि देवबंद के रूढ़िवादी धार्मिक समूह और अलीगढ़ के अंग्रेजी शिक्षित समूह को खिलाफत कमेटी के बैनर के नीचे एक साथ लाना था और बाद में नेशनल कांग्रेस के मंच पर सभी भारतीय संप्रदायों एवं वर्गों से आये स्वतंत्रता संग्राम सैनिकों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर वे खड़े हुए।

रूढ़िवादी एवं आधुनिक शिक्षित मुसलमानों का संगठन लाभदायक सिद्ध हुआ और उसने दोनों में नयी चेतना उत्पन्न कर दी। रुढ़िवादी समय की आवश्यकताओं तथा समस्याओं से परिचित हुए और कुछ संगठन की तकनीक के बारे में सीखा, आधुनिक मुसलमानों ने कुछ मात्रा में धार्मिक चेतना विकसित की और मुसलमान जन समुदाय के साथ संपर्क स्थापित किया, जिनसे वे पूरी तरह अलग हो गये थे। मुसलमानों ने सजातीय अच्छे संगठित समुदाय के रूप में केंद्रीभूत विचारों और कार्यवाहियों की क्षमता विकसित की तथा 1920-22 के बीच स्वतंत्रता की लड़ाई में प्रमुख भाग लिया। अब संभावना थी कि वे अपना ध्यान बड़ी समस्या की ओर लगायेंगे, जिसका पूरे विश्व में मुसलमानों को सामना करना पड़ रहा था—आधुनिक युग की आवश्यकताओं तथा स्थितियों के अनुसार उनके धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन के संयोजन की समस्या। किंतु दुर्भाग्य से मुसलमानों के दो वर्गों के बीच एकता लंबे समय तक नहीं चली।

खिलाफत, जिसके द्वारा उन्होंने मुसलमान समुदाय पर अपना प्रभाव बनाया था, उस खिलाफत की संस्था को समाप्त करने के तुर्कों के निर्णय के कारण, अकस्मात धराशायी खिलाफत आंदोलन ने उनके पैरों के नीचे की जमीन काट दी और उनकी नैतिकता पर घातक प्रभाव पड़ा। मुसलमानों के दो वर्गों के बीच मनमुटाव पुनर्जीवित हो गया और वे एक दूसरे की शक्ति के प्रति ईर्षालु हो गये। इसके बाद प्रत्येक वर्ग में फूट पड़ी। रूढ़िवादियों ने, राजा इब्नी सउद द्वारा हेजाज में पवित्र व्यक्तियों की मजारों पर बने मसोलियम गिराने की नीति के विरुद्ध सांघातिक युद्ध छेड़ दिया। आधुनिक शिक्षित व्यक्ति मुस्लिम-लीग और कांग्रेस के बीच संबंधों को लेकर आपस में लड़ गये। उनमें से वे जिनकी स्वतंत्रता आंदोलन में वास्तव में दिलचस्पी नहीं थी, किंतु कांग्रेस के पीछे इस बदले में हो गये थे कि उसने खिलाफत का समर्थन किया, किंतु बाद में कांग्रेस का वातावरण उन्हें प्रतिकूल प्रतीत होने लगा और वे स्वामिभक्त समूह द्वारा फुसला लिये गये। इन संबंध विच्छेद करने वालों ने, जिन्हें खिलाफत और कांग्रेस आंदोलन में राजनैतिक प्रशिक्षण मिला तथा जनता पर प्रभाव स्थापित हुआ, स्वामिभक्त समूह द्वारा दिये गये मोहरे का उपयोग किया, जो मुस्लिम कांफ्रेंस और बाद में मुस्लिम-लीग में कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों को भड़काने और सरकार के विरुद्ध हिंदू और मुसलमानों के संयुक्त मोर्चे को तोड़ने के लिए, सम्मिलित हो गया।

यह कहना कठिन है कि कांग्रेस विरोधी हिंदू और मुसलमान समूहों का सांप्रदायिक दंगों में हाथ था, जो एक ही समय संपूर्ण भारत में भड़के या पुलिस और सरकार के जासूसों के द्वारा उत्पन्न किए गये थे। किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ राजनैतिक नेताओं ने अपने सांप्रदायिक संगठनों को मजबूत बनाने के लिए अनैतिकता से उनका दुरुपयोग किया। फिर भी वे हिंदू-मुसलमान को सांप्रदायिक दलों में आकर्षित करने की अपेक्षा उन्हें विभाजित करने में अधिक सफल हुए। सांप्रदायिकतावादी मुसलमान विशेष तौर से धर्म के नाम पर जनता से अपील करते हुए, अधिक प्रभाव पैदा

नहीं कर सके क्योंकि पक्के राष्ट्रीयतावादी के रूप में बड़े बहुमत में रूढ़िवादी धार्मिक वर्ग और यहां तक कि धार्मिक मत वाले शिक्षित मुसलमान उनके विरुद्ध थे। सामान्यतया मुसलमान धर्म के मामले में, बाद वालों के मत को अधिक महत्व देते थे। इसके अलावा यद्यपि अशिक्षित सीधे स्वभाव वाली मुसलमान और हिंदू जनता खूनी दंगों के लिए किसी भी आग मार्का कट्टर धूर्त एजेंटों तथा भड़काने वालों के द्वारा उत्तेजित की जा सकती थी, किंतु वे एक-दूसरे के विरुद्ध उनमें दुर्भावना तथा घृणा के लिए कुछ समय तक भी स्थान नहीं बना सके। इसलिए 1937 के आम चुनाव में बड़ी संख्या में मुसलमानों ने मुस्लिम-लीग के पक्ष में नहीं, बल्कि अनेक प्रांतों में कांग्रेस तथा निर्दलीय उम्मीदवारों एवं और दूसरों के पक्ष में मतदान किया।

कितु चुनाव के बाद जब कांग्रेस ने मंत्रिमंडल गठित किया तो राष्ट्रीयतावादी मुसलमान राजनीतिज्ञ कुड़मुड़ाने, खीजने लगे कि उन्हें बहुत कम पद दिये गये। फिर भी, सामान्य मुसलमानों द्वारा व्यक्त शिकायतें अधिक महत्वपूर्ण थीं कि उनके सांस्कृतिक अधिकारों को कुचला जा रहा है। जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है कि इन काल्पनिक दुखों का वास्तविक सारतत्व यह था कि अधिकांश नये कांग्रेसी, अल्पसंख्यकों विशेषकर मुसलमानों के प्रति, महात्मा गांधी द्वारा अपनायी गयी उदार नीति पर विश्वास नहीं करते थे। इस तरह कांग्रेस के मुसलमानों की ओर सामान्य झुकाव में निश्चित ही, यद्यपि सूक्ष्म, कितु पर्याप्त परिवर्तन आया। इसका सबसे स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाला संकेत यह था कि कांग्रेस की औपचारिक घोषणा कि हिदुस्तानी (उर्दू हिदी का सबसे समान उपाय) परशियन और देवनागरी दोनों लिपियों में राष्ट्र भाषा बनायी जायेगी, को कुछ प्रांतों की कांग्रेस सरकार द्वारा मान्य नहीं किया गया और उर्दू को साधारण रूप से उनके द्वारा निरुत्साहित किया गया। इस कारण सार्वलौकिक असंतोष केवल उच्च और मध्यमवर्ग में नहीं बल्कि मुसलमानों के निम्न मध्यमवर्ग में, जो अनेक शहरी क्षेत्रों में बहुसंख्यक थे, फैल गया।

मुसलमानों का कांग्रेस विरोधी वर्ग, जो मुस्लिम-लीग में शामिल हो गया था, ने कांग्रेस के विरुद्ध अपने समुदाय को भड़काने के लिए विशुद्ध धार्मिक विवाद की अपेक्षा सांस्कृतिक विवाद को काफी अधिक प्रभावकारी पाया। जिस अनैतिक तरीके से उन्होंने इसका और मुसलमानों के भोलेपन का, विशेषकर उन प्रांतों में जहां वे अल्पसंख्या में थे, अपने प्रचार के लिये दुरुपयोग किया, इस तरह राष्ट्रों के राजनैतिक इतिहास में शायद ही कभी हुआ हो। मुसलमानों को सहमत किया गया कि केवल हिंदी ही नहीं बल्कि हिंदुस्तानी (जिसे महात्मा गांधी ने हिंदू और मुसलमानों के बीच यथासंभव अच्छी समझ पैदा करने के लिए प्रारंभ किया था) मुस्लिम संस्कृति को नष्ट करने के लिए बनायी गयी है। यहां तक कि बुनियादी शिक्षा की योजना, जो महात्मा गांधी ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त मुसलमान शिक्षा शास्त्रियों से विचार-विमर्श कर तैयार की थी, और जो केवल शिक्षा पद्धति की तकनीक की समस्या थी, को मुसलमानों के सांस्कृतिक जीवन में एक अवरोध

बना दिया। इन खतरों के विरुद्ध सुरक्षा के सुझाव थे (अल्पसंख्या वाले प्रांतों के मुसलमानों के लिए) मुसलमानों के बहुसंख्या वाले प्रांतों को भारत से अलग करना तथा पाकिस्तान के नाम से स्वतंत्र राष्ट्र का निर्माण करना। प्रत्येक सामान्य मस्तिष्क वाले व्यक्ति को पूरी तरह असमंजस में डालने वाली बात यह थी कि कैसे अल्प संख्या वाले प्रांतों के मुसलमानों, जिन्हें भारत में ही रहना था, को विश्वास करा दिया गया कि पाकिस्तान उनकी कठिनाइयों का समाधान करेगा। केवल एक परिकल्पना इस पहेली के समाधान की संभावना दे सकती है। हमने पूर्व में ही देखा कि मुसलमानों में असंतोष उन प्रांतों में अधिक स्पष्ट था जिनमें कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने जमींदारी प्रथा समाप्त करने का प्रस्ताव किया, क्योंकि एक बड़ी संख्या में उच्च मध्यमवर्ग और निम्न मध्यमवर्ग के मुसलमान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जमींदारी पर निर्भर करते थे। मुसलमान जमींदार (उनके हिंदू भाई भी) और एक बड़ी संख्या में अन्य मुसलमानों ने कांग्रेस सरकार को इसके पहले ही उखाड़ फेंकना चाहा, कि वे खतरनाक भूमि सुधार कानून लागू कर सकते। इसलिए उन्होंने मुस्लिम-लीग का समर्थन किया। ये मुसलमान शायद न तो पाकिस्तान चाहते थे और न ऐसा विश्वास था कि वह अस्तित्व में आ जायेगा, किंतु केवल भारतीय राजनीति में बाधा उत्पन्न करने के लिए इसका समर्थन करते, जिससे कि अंग्रेजों को भारत में रहने का एक बहाना मिल जाये और उनके न्यस्त स्वार्थों की रक्षा हो।

फिर भी यह हो सकता है, कि मुस्लिम-लीग को सांस्कृतिक पहलू का अनुचित उपयोग करने तथा कांग्रेस के विरुद्ध भारतीय मुसलमानों को भड़काने में उल्लेखनीय सफलता मिली और इस तरह पाकिस्तान बनाने के लिए उसका पक्ष बहुत मजबूत हो गया। प्रमुख कांग्रेस नेता कहते रहे कि सांस्कृतिक पहलू मध्यम वर्ग तक सीमित मात्र भावात्मक बात है और उसमें आम मुसलमान जनता की कोई दिलचस्पी नहीं है। उन्होंने महसूस नहीं किया कि सामान्य तौर से भारत में अशिक्षित जनता और उसमें मुसलमान जनसमूह विशेष रूप से मध्यवर्ग के नेताओं के पीछे अंधेपन से चलता है।

विभाजन के बाद प्रायः सभी मुस्लिम-लीग नेताओं ने भारत के मुसलमानों को उनके भाग्य पर छोड़ दिया और पाकिस्तान चले गये। मुसलमानों का नेतृत्व राष्ट्रीयतावादी मुसलमानों के पास चला गया, जिन्होंने हमेशा संगठित भारतीय राष्ट्र की वकालत की थी। 'दो राष्ट्रों का सिद्धांत' जिसके बारे में 1937 के पूर्व किसी ने भी कभी नहीं सुना था, भारतीय भूमि पर स्वाभाविक रूप से मृत हो गया और मुसलमान भारतीय राष्ट्र के अभिन्न अंग बन गये। तथ्य का अविवादास्पद प्रमाण कि भारतीय मुसलमानों ने अन्य अल्पसंख्यकों के समान स्वेच्छा से भारतीय राष्ट्रीयता स्वीकार की, यह था कि विधानसभा में उनके प्रतिनिधियों ने (जो अलग जातिगत आधार पर चुनाव क्षेत्र से निर्वाचित हुए थे) सर्वसम्मति से नये भारतीय संविधान को समर्थन दिया और यही मुसलमान समाचारपत्रों और जन संगठनों ने किया। इसके अलावा स्वतंत्र भारत में संपन्न प्रथम आम चुनाव में (1952) बड़े बहुमत के मुसलमानों ने कांग्रेस के पक्ष में तथा

शेष ने भारतीय संविधान के प्रति निष्ठावान अन्य दलों के पक्ष में मतदान किया।

अब प्रश्न उठता है कि भारतीय मुसलमानों के कुछ सीमा तक समान भारतीय राष्ट्रीयता से संबद्ध हो जाने के बाद उनका समान राष्ट्रीय संस्कृति के संबंध में क्या रुख है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व, भारत में मुसलमान समुदाय की वर्तमान सांस्कृतिक स्थिति का संक्षेप में सर्वेक्षण करना उपयुक्त होगा।

इस समय स्थिति इस प्रकार है। बुनियादी समस्या, जिसका भारत के मुसलमानों को विश्वभर के उनके सह धर्मावलंबियों के समान सामना करना पड़ रहा है, वह है उनके द्वारा पश्चिमी संस्कृति के साथ सामंजस्य स्थापित करना। अभी तक उन्होंने अपने दो सिद्धांतों के प्रति निश्चित धारणा बनायी है। एक छोटे समुदाय को छोड़कर सबने भारतीय संविधान के प्रति निष्ठा अर्पित करते हुए,अपने को मजहबी राज्य के विचारों से असंबद्ध कर लिया है, जो कि अब भी अनेक मुसलमान देशों में आंतरिक मतभेद का कारण है, और धर्म निरपेक्ष प्रजातांत्रिक राज्य के आधुनिक पाश्चात्य सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है। किंतु दूसरी ओर, अन्य भारतीय समुदायों और अधिकांश एशियाई देशों को समान राज्यों के प्रति देशभक्ति और निष्ठा का पवित्र मूल्यों की तरह सम्मान करते हुये वे यह अस्वीकार करने में एकमत हैं,जिसके अनुसार पश्चिमी राष्ट्र धर्म के ऊपर देश और राज्य को प्राथमिकता देने में स्पष्ट तौर से विश्वास करते हैं। उनके लिये जैसाकि हमेशा था, धर्म का उच्चतम मूल्य था।

इससे हमारे सामने प्रश्न उठता है कि भारतीय मुसलमान किस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति के साथ खड़े होते हैं। यहां प्रश्न का उत्तर हम बहुत संक्षेप में देंगे क्योंकि आगे के दो अध्यायों मे अधिक पूर्णता से उसकी तथा भारत में राष्ट्रीय संस्कृति की वर्तमान स्थिति से संबंधित अन्य पहलुओं की विवेचना की गयी है।

संस्थागत धर्म के बारे में बहुसंख्यक समुदाय से मतभेद होने के बावजूद, आधारभूत ढांचा, पारिवारिक जीवन और सामान्य जीवन में, भारतीय मुसलमानों के साथ बहुत अधिक समानता है और राष्ट्रीय संस्कृति के किसी भी तर्कसंगत स्वरूप से मेल हो सकता है। किंतु वे निरुत्साहित और दुखी हैं। इस भावना से कि, जो स्वरूप हिंदुओं के बड़े समुदाय में उत्पन्न किया जा रहा है वह एक प्रतीक बन रहा है। हिंदी को एक मात्र राष्ट्र भाषा बनाने के प्रयत्न एक विशिष्ट नीति से प्रेरित हैं, जो पिछले साढ़े सात शताब्दियों में मुसलमानों द्वारा भारतीय संस्कृति को किये गये योगदान को नकारते प्रतीत होते हैं।

X X X

जैसाकि मुसलमानों के साथ था, पाश्चात्य संस्कृति के प्रति हिंदू समुदाय की सकारात्मक एवं निषेधात्मक दोनों प्रकार की प्रतिक्रियायें बहुत मजबूत थीं। प्रथम सकारात्मक प्रतिक्रिया आदि ब्रह्म समाज की ओर से व्यक्त होती थी, जो यद्यपि कुछ मात्रा में इस्लाम, क्रिश्चियनिटी तथा पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित थी, किंतु वह अनिवार्यतः एक मध्यमार्गी हिदू सुधार आंदोलन था। किंतु भारतीय ब्रह्म समाज के नाम से केशवचंद्र

सेन द्वारा संस्थापित नयी सोसाइटी, जिसमें मातृसमाज के विरोधी सम्मिलित थे पर क्रिश्चियनिटी का गहरा प्रभाव था और सभी धर्मों के बाद गठित एक अलग पंथ का रूप प्रकट करती थी। सामाजिक सुधार का उसका कार्यक्रम भी अपेक्षाकृत अधिक क्रांतिकारी था। यद्यपि यह ब्रह्म समाज का आंदोलन हिंदू समाज में बहुत लोकप्रिय नहीं था और आंतरिक लड़ाइयों से कमजोर हो गया था, जिसने इसका दो उप-पंथों में विभाजन कर दिया था, किंतु फिर भी उसके द्वारा मूल्यवान सेवाएं दी गयीं।

केशवचंद्र सेन के प्रभाव ने बंबई के शिक्षित हिंदुओं में धार्मिक और समाज सुधार की भावना उत्पन्न की। उन्होंने ब्रह्म समाज के ढंग से प्रार्थना समाज की शुरुआत की। रानाडे के नेतृत्व में नये समाज को अलग पंथ के रूप में विकसित नहीं होने दिया, किंतु हिंदू समाज के अंतर्गत एक शक्तिशाली सुधार आंदोलन का रूप दे दिया।

महादेव गोविंद रानाडे आधुनिक भारत के महान नेताओं में से एक थे। उन्होंने हिंदुओं में ज्ञान की नयी भावना भरने का प्रयत्न किया और मुसलमानों के साथ सैयद अहमद खान की अपेक्षा बहुत अधिक सफलता प्राप्त की। हिंदुओं की सामाजिक, शैक्षणिक और राजनैतिक जागृति में रानाडे का योगदान केवल दक्खिन में नहीं बल्कि संपूर्ण भारत में बहुत अधिक था। विशिष्ट सामाजिक सुधार लाने के अतिरिक्त उन्होंने हिंदुओं में प्रार्थना समाज और सामाजिक सम्मेलनों के द्वारा एक सामान्य सुधारवादी प्रवृति पैदा कर दी। उन्होंने सार्वजनिक सम्मेलनों और डेवकन सभाओं के द्वारा आधुनिक शिक्षा तथा राजनैतिक स्वतंत्रता के आंदोलनों को भी प्रोत्साहित किया।

राममोहन राय तथा ब्रह्म समाज के अन्य नेताओं के समान रानाडे हिदुओं में उदारवादी प्रवृति के प्रतिनिधि स्वरूप थे, जिसका पाश्चात्य संस्कृति पर अनुकूल असर हुआ और वे रूढ़िवादी विश्वासों और सामाजिक प्रथाओं में सुधार और परिवर्तन लाते हुए हिदुत्व और आधुनिक युग की आवश्यकता के अनुकूल बनाने पर विश्वास करते थे। कितु हिंदू समाज के बहुत बड़े समुदाय की पाश्चात्य संस्कृति के प्रति प्रतिक्रिया संपूर्ण रूप में निषेधात्मक थी। उसका एक मात्र पहलू, जिसने उन्हें प्रभावित किया, वह था पाश्चात्य लोगों की देशभक्ति और राष्ट्रीयता। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि रूढ़िवादी हिंदू धर्म और संस्कृति आत्मनिर्भर है और प्रत्येक युग की आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है। आवश्यकता थी मात्र पुनः व्याख्या की कि भारत की समस्याओं का समाधान पश्चिम के अनुगमन में नहीं बल्कि उसके राजनैतिक तथा बौद्धिक गुलामी से मुक्त होने तथा समस्त विदेशी प्रभाव से मुक्त राष्ट्रीय संस्कृति के साथ एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाने में है। उनके लिए राष्ट्र का अर्थ था हिंदू समुदाय। मुसलमानों को वे अंग्रेजों के समान विदेशी मानते थे।

इस दकियानूसी हिंदुत्व के सबसे प्रबल समर्थक बाल गंगाधर तिलक थे, जो रानाडे के शक्तिशाली विरोधी तथा उस दल के नेता थे जो दक्खिन में उनके राजनैतिक एवं सामाजिक उदारवादिता का विरोध करता था। तिलक ने अपना सार्वजनिक जीवन

24 वर्ष की उम्र में मराठा और केसरी के संपादक के रूप में प्रारंभ किया। उत्साही युवा व्यक्तियों के समूह के सहयोग से काम करते हुए आपने तीव्र गति से सफलता प्राप्त की और डेक्कन एजूकेशन सोसाइटी तथा फर्ग्यूसन कालेज की स्थापना में प्रमुख हिस्सा लिया (1882)।

तिलक के साहित्यिक क्रियाकलाप हिंदुओं को उनके समृद्ध अतीत के जीवंत संपर्क में लाने की दिशा में होते थे। वे ख्याति प्राप्त संस्कृत विद्वान थे और अंग्रेजी भाषा में आपकी दो पुस्तकों, द आर्कटिक होम इन द वेदाज एंड ओरियन तथा भगवद्गीता पर मराठी में भगवद्गीता रहस्य का बड़ी संख्या में शिक्षित हिंदुओं के मन पर गहरा प्रभाव था जिसने हिदू राष्ट्रीयता को निश्चित ही धार्मिक तथा कुछ पुनरुत्थानवादी आधार दिया।

आर्य समाज ने अधिक स्पष्ट रूप में पुनरुत्थानवादी नीति को अपनाया। उसने वेदांतिक एवं पौराणिक तत्वों तथा मुसलमान और पाश्चात्य संस्कृतियों के सभी प्रभावों को हटाते हुये वैदिक युग की पुरातन सादगी की ओर हिंदुत्व को ले जाने का प्रयत्न किया।

एनीबेसेंट द्वारा चलायी गयी ब्रह्म विद्या की रहस्यमय उपासना को हिंदू समाज में अधिक स्थान नहीं मिला किंतु, सेंट्रल हिदू कालेज के संस्थापक के रूप में (अब बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी) तथा भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में होम रूल लीग के प्रवर्तक के रूप में, श्रीमती एनीबेसेंट की हिंदुत्व के लिए व्यक्तिगत सेवायें बहुत मूल्यवान थीं।

ये सुधार आंदोलन वास्तव में, आधारहीन कल्पनाओं पर आधारित गतिविधियों के पुनरुत्थान तथा हिंदू मस्तिष्क के गतिशील आवेग के कारण उत्पन्न हुये और उनका अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिक भावनाओं पर प्रभाव पड़ा। शब्द के सही अर्थों में धार्मिक जागृति, जिसका स्रोत विशुद्ध धार्मिक अनुभूति, चरम वास्तविकता का प्रत्यक्ष तात्कालिक बोध होता है, रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद द्वारा लायी गयी। बाल्यकाल से रामकृष्ण परमहंस में तपश्चर्यामय आत्मसंयम और आत्मशुद्धि के समयबद्ध तरीके से सत्य को प्राप्त करने की प्रबल उत्कंठा थी। उनकी समस्त अंगीकृत आस्थाओं ने काली, सीता, कृष्ण के आशीर्वाद की अनुभूतियों के साथ, उन्हें न केवल हिंदू रहस्यमय व्यवस्थाओं की विभिन्न साधनाओं के प्रयोग के लिए प्रेरित किया बल्कि उन्होंने इस्लाम और क्रिश्चियनिटी की आराधना पद्धतियों के प्रयोग किये। इससे उन्हें मुहम्मद पैगंबर और जीसस क्राइस्ट की जीवंत उपस्थिति में अपने को रख सकने की सर्वोच्च अनुभूति को सामर्थ्य मिला। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम सात वर्ष शिष्यों को प्रेरित करने में लगाये, जो रहस्य और रहस्यमय आनंद में उनके आसपास एकत्रित हो गये थे। सबसे प्रमुख शिष्य थे स्वामी विवेकानंद।

स्वामी विवेकानंद केवल 23 वर्ष के थे जब उनके गुरु का निधन हो गया। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक पांच वर्षों की तीर्थ यात्रा के दौरान, उनके हृदय को जिस बात ने छुआ वह थी अज्ञानता और देशवासियों को पीस डालने वाली गरीबी।

कन्याकुमारी के पवित्र मंदिर की यात्रा करने के बाद आप हिंद महासागर के तट पर एक चट्टान पर खड़े हुये और शिक्षा तथा भारत के लाखों गरीबी से जकड़े व्यक्तियों की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिये अपना जीवन समर्पित करने के लिये पूर्ण निष्ठा के साथ प्रतिज्ञा की। इसके शीघ्र बाद उन्होंने शिकागो में विश्व धर्मो के सम्मेलन में भाग लिया और अपनी आस्था और प्रेम के संदेश के प्रति काफी लगाव देखकर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भाषण देने हेतु यात्रा की, वेदांत दर्शन की शिक्षा देने के लिये सेमीनार आयोजित किये, एक पुस्तक लिखी, 'राजयोग' और न्यूयार्क में वेदांत सोसाइटी की स्थापना की। विदेश प्रवास के समय उन्होंने स्वीट्जरलैंड, जर्मनी तथा इंग्लैंड की भी यात्रा की और लंदन में बहुत से शिष्य बनाये। भारत वापिस लौटने पर स्वामी विवेकानंद का शानदार स्वागत किया गया। उन्होंने अपने देश की एक और दूसरी यात्रा की और इस बार हिंदू समुदाय को समाज सेवा और सुधार के लिये प्रोत्साहित करते हुये विशेषकर महिलाओं की शिक्षा तथा उद्धार, पश्चिमी तरीके से संगठित रूप में करने पर जोर दिया। सन् 1897 में उन्होंने ऐसे संगठनों के लिए आदर्श के रूप में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। सन् 1799 में उन्होंने बेलूर में अपनी श्रेणी के साधुओं के लिए मठ का निर्माण किया और अलमोड़ा में अद्वैत आश्रम की स्थापना की। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की एक दूसरी यात्रा के बाद वे भारत वापिस लौटे और अपने प्रेम और सेवा के मिशन पर निरंतर तब तक कार्य करते रहे जब तक कि उनका स्वास्थ्य नहीं बिगड़ा। वे बेलूर मठ में आये और अपने शिष्यों को 1902 में मृत्यु के समय तक वेदांत दर्शन की शिक्षा देते रहे।

आंतरिक अनुभूतियों से अनुप्राणित और बौद्धिक अन्वेषण पर आधारित वेदांत दर्शन की एक भिन्न व्याख्या श्री अरविंद घोष द्वारा की गयी थी। सन् 1772 में कलकत्ता में जन्मे श्री अरविद ने अपनी शिक्षा 7 वर्ष की उम्र से 21 वर्ष तक इंग्लैंड में प्राप्त की। भारत वापिस लौटने के बाद उन्होंने 13 वर्ष बड़ौदा राज्य की सेवा में बिता दिये। उस समय उन्होंने संस्कृत पढ़ी और हिदू धर्म तथा संस्कृति का पूर्णरूपेण अध्ययन किया। सन् 1906 में बंगाल विद्रोह के समय उन्होंने बड़ौदा राज्य छोड़ दिया और कलकत्ता में राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने लगे। यह मूल रूप से उन्हीं की प्रेरणा थी कि राष्ट्रीय दल ने स्वदेशी और असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया जो बाद में नेशनल कांग्रेस द्वारा अपना लिये गये। इस समय एक गहन धार्मिक अनुभूति ने श्री अरविंद के जीवन का पूरा मार्ग ही बदल दिया। उन्हें श्रीकृष्ण के दिव्य दर्शन हुये, जिन्होंने हिंदू समुदाय को यह संदेश देने का उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा कि वे सनातन धर्म की सेवा तथा उसके माध्यम से संपूर्ण विश्व की सेवा के लिये आगे बढ़ें। कितु श्री अरविंद यह मानते थे कि हिंदू अपने देश को स्वतंत्र करने तथा धर्म को बढ़ाने में सफलता तभी प्राप्त सकते हैं, जब वे आध्यात्मिक विकास की उच्च अवस्था को प्राप्त कर लें। आध्यात्मिक विकास की प्रकृति और उसकी तकनीक की साधना के लिये वे पांडिचेरी आश्रम में (जब वह फ्रांसीसी क्षेत्र में था) एकांतवास में लिया जहां वे मृत्यु के समय तक रहे। सात वर्ष तक उन्होंने एक

पत्रिका 'द आर्य' प्रकाशित की, जिसमें उनकी आत्मकथा, 'दिव्य दर्शन' क्रमबद्ध प्रकाशित हुई। इसके बाद वह तीन भागों में एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। भगवद्गीता पर उनके द्वारा टीका इसके पूर्व प्रकाशित हो चुकी थी। श्री अरविंद का शिक्षित हिंदुओं पर गहरा प्रभाव था। उनकी दार्शनिक कल्पनाएं अधिकांश सामान्य व्यक्तियों के लिये बहुत कठिन हैं, किंतु सभी श्री अरविंद के पौराणिक व्यक्तित्व के प्रति सम्मान और प्रेम व्यक्त करते हैं।

हिंदू समाज में, इन नये धार्मिक और बौद्धिक आंदोलनों की संक्षिप्त समीक्षा में हम दो विरोधी प्रवृतियों को क्रियाशील देखते हैं।

(1) एक उदारवादी आंदोलन—जो धर्म में ग्रहणशीलता, सामाजिक दृष्टिकोण में आधुनिकता और राजनीति में मध्यमार्गी प्रकट हुआ,

(2) एक रूढ़िवादी आंदोलन—इस बाद वाले आंदोलन ने दो विभिन्न रूप ग्रहण किए। एक ने बौद्धिक धर्म और सामाजिक जीवन की ओर वापिस लौटने पर बल दिया तथा दूसरे ने वेदांत दर्शन को पौराणिक हिंदुत्व के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुये उसकी मूल आत्मा को बिना बदले, हिंदू समाज का ढांचा बदलने के लिये, धार्मिक जीवन का आधार बनाने पर जोर दिया। राजनीति में सभी दकियानूसी विदेशी प्रभाव का विरोध करने तथा हिंदू राष्ट्रीयता का समर्थन करने में सहमत हो गये। उदारवादियों और रूढ़िवादियों के बीच का संघर्ष, रूढ़िवादियों की जीत के साथ समाप्त हुआ। उदारवादी एक छोटे समूह में चलते रहे, देश के बौद्धिक जीवन पर काफी प्रभाव बनाया किंतु नेशनल कांग्रेस पर उनका प्रभाव समाप्त हो गया, और सार्वजनिक जीवन से करीब-करीब अलग कर दिये गये। जहां तक रूढ़िवादियों द्वारा राजनैतिक स्वतंत्रता के आंदोलन को अनुप्राणित करने का प्रश्न है, यह ठीक था, किंतु रूढ़िवादियों की राष्ट्रीयता की अवधारणा यद्यपि अधिक गतिशील थी, लेकिन उदारवादियों की अपेक्षा संकुचित थी, क्योंकि वह हिंदू समुदाय के बाहर नहीं गयी।

किंतु भाग्यवश भारत में तीन महान पथ प्रदर्शक थे, एक कवि, एक दार्शनिक और एक नैतिकता की शिक्षा देने वाला—जिन्होंने हिंदुत्व की सीमाओं को व्यापक बनाया, जब तक कि वह सार्वलौकिक मानव परिवार के साथ संबद्ध नहीं हो गया, और हिंदुओं में विस्तृत राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित नहीं हो गया। उन्होंने उन्हें मुसलमानों तथा अन्य अल्प संख्यकों के सहयोग से एक भारतीय राष्ट्र बनाने के लिये प्रयत्न करने हेतु प्रेरित किया।

कवि टैगोर ने विशाल भारत के लिए अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारत का इतिहास केवल हिंदुओं द्वारा नहीं बनाया गया; शताब्दियों पूर्व मुसलमान भारत में अपनी सांस्कृतिक परंपराओं के साथ आये और इसके इतिहास के एक अंग बन गये। इसके बाद अंग्रेज पाश्चात्य संस्कृति की निधि लेकर

आये। नये भारत पर किसी एक संप्रदाय या जाति विशेष का एकाधिकार नहीं था। यहां विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों को शांति और प्रेम के सद्‌भावनापूर्ण जीवन के साथ रहना होगा। उस तरह का वातावरण उत्पन्न करना तथा जीवन में परस्पर प्रेम और सद्‌भावना विकसित करना भारत के लिये आज की सबसे बड़ी समस्या है। टैगोर ने स्वयं इस समस्या के समाधान के लिये अधिकाधिक प्रयत्न किया। टैगोर का अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय विश्वभारती जो उन्होंने शांति निकेतन में स्थापित किया था, का उद्देश्य विश्वबंधुत्व का वातावरण प्रदान करना था, जिसमें पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों के उत्तम प्रतिनिधियों को एक साथ लाकर भारतीय नवयुवकों में विश्व बंधुत्व की भावना का पोषण किया जा सके।

दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् हिंदू राष्ट्रीयता के सबसे प्रबल समर्थक थे, यदि राष्ट्रीयता शब्द को ऊंचे उठाये गये अर्थों में प्रयोग किया जाये। उन्होंने हिंदुत्व के बड़े धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलनों की पुनः व्याख्या, वैदिक से नव वेदांतिक के बीच विकास की एक शृंखला को जोड़ने वाली विभिन्न कड़ियों के रूप में तथा उसके सिद्धांतों, कर्मकांडों और सामाजिक प्रथाओं को एक केंद्रीभूत विचारधारा के तर्कसंगत परिणामों के रूप में की। उन्होंने अहंकार और भौतिकता के इस युग में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को जीवित बनाये रखने के लिये हिंदुओं को सचेत किया और इस तरह उन्हें उच्च प्रेरक लक्ष्य दिये। किंतु इसके साथ ही साथ डा० राधाकृष्णन् ने प्राचीन को पुनर्जीवित करने के विचारों को त्यागने तथा वर्तमान के साथ समन्वय स्थापित करने के उपदेश दिये। इतिहास के साथ महत्वपूर्ण संबंध बनाये रखने पर जहां उन्होंने जोर दिया वहां इतिहास की धारा को वापिस लौटाने के व्यर्थ प्रयत्नों के विरुद्ध चेतावनी भी दी। डा० राधाकृष्णन् ने हिंदुओं के सामने जो आदर्श प्रस्तुत किया वह यह था कि राष्ट्रीय परंपराओं, उनके स्थानदंडों तथा मूल्यों का बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से अध्ययन का निष्कर्ष निकालें और उसे नयी आवश्यकताओं और परिस्थितियों का सामना करने के लिये नयी स्थितियों का उपयोग करते हुये, नया जीवन बनाने का आधार बनायें।

किंतु कवि एवं दार्शनिक के विचारों को कार्यरूप में परिणित करना, शब्दों को कर्म का रूप देना, उच्च जाति के हिंदू राष्ट्रीयता के आंदोलन को सभी जाति और धर्म के लोगों के लिए व्यापक बनाना, ऐसा बड़ा कार्य था, जिसे बुद्ध के बाद नैतिकता के सबसे बड़े शिक्षक संपन्न करने के लिये कटिबद्ध हुए। महात्मा गांधी की राजनैतिक गतिविधियां मानवता के आध्यात्मिक एवं नैतिक पुनरुत्थान के उनके बड़े मिशन से निकलने वाली मात्र शाखाएं थीं। उन्होंने भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किया, क्योंकि स्वतंत्र भारत ही उनके महान नैतिक आदर्श को प्राप्त कर सकता था और उसके उदाहरण से अन्य राष्ट्रों को अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया जा सकता था।

अहिंसा के द्वारा सत्य की प्राप्ति के इस बड़े आदर्श को अपने हिंदू समाज के सामने रखकर उन्होंने शुरुआत की, क्योंकि उनका विश्वास था कि यह हिंदू जीवन की

अभिव्यक्ति है। उनकी आध्यात्मिक अनुभूति ने उनके लिये सत्य के रूप में चरम वास्तविकता को उद्‌घाटित किया। इसलिए सत्य की खोज उनके लिये सर्वोच्च नैतिक मूल्य था। अच्छे साध्यों को उतने ही अच्छे और पवित्र साधनों के माध्यम से प्राप्त कर, जीवन के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक, प्रत्येक क्षेत्र में, उसकी उपलब्धि हो सकती है। सत्य के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा प्रत्येक तरह का अनियंत्रित मनोविकार है जिसे महात्मा गांधी साधारण पद 'अहिंसा' के रूप में व्यक्त करते हैं। इसलिए सत्य के उपासकों को अहिंसा का पालन विचार, वाणी और कर्म सभी रूपों में करना होगा।

किंतु महात्मा गांधी ने अपने सत्य और अहिंसा के संदेश या देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के आह्वान को केवल हिंदुओं तक सीमित नहीं रखा। मुसलमानों को मिलाकर सभी अल्पसंख्यकों को, हिंदुओं के समान अपने ही व्यक्ति मानने के लिए उनका हृदय काफी विशाल था और उनमें बहुत बड़ी दूर दृष्टि थी कि भारत के राष्ट्रीय अवयव में सबसे बड़े और सबसे गतिशील अल्पसंख्यकों को शामिल किये बिना न स्वतंत्रता जीती जा सकती और न उसे कायम रखा जा सकता है। इसलिए मुसलमान राष्ट्रीयता और हिंदू राष्ट्रीयता को एक समान राष्ट्रवाद में जोड़ना, उन्होंने अपने जीवन का एक प्रमुख कार्य बनाया।

राजनैतिक एकता के आधार के रूप में दो संप्रदायों के बीच सांस्कृतिक सामंजस्य उत्पन्न करते हुये, उन्होंने अपना कार्य प्रारंभ किया। वे जानते थे कि भारत के इतिहास में सबके ऊपर सांस्कृतिक सद्‌भावना का अर्थ है धार्मिक सद्‌भावना। कुरान के अध्ययन से महात्मा गांधी ने यह मान्य किया कि इस्लाम की मूल आत्मा यद्यपि हिंदुत्व के समान वही नहीं है किंतु बहुत कुछ उससे मिलती-जुलती है। अपनी प्रार्थना सभाओं में जिनमें मुख्यतया हिंदू सम्मिलित होते थे, वे उपासना पद्धति में कुरान की दो आयतें और कुछ पद्यांश बाइबिल को शामिल करते थे। यह मुसलमानों के प्रति उनकी भावनाओं का प्रतीक था, जिसके कुछ वर्षों तक उसी तरह का वातावरण निर्मित किया, जैसाकि किसी समय भक्ति आंदोलन के बड़े प्रवक्ताओं या कबीर और गुरु नानक द्वारा उत्पन्न किया गया था। यद्यपि मुस्लिम-लीग और कांग्रेस के बीच की कटुतापूर्ण लड़ाई ने इस सद्‌भावना को नष्ट कर दिया किंतु यह तथ्य कि हमारे समय में एक बार सद्‌भावना स्थापित हुयी थी, प्रकट करता है कि राजनैतिक समझौतों से मुक्त विशुद्ध धर्म हिंदू और मुसलमानों के बीच की दूरी नहीं बढ़ाते बल्कि उनको एक दूसरे केअधिक निकट लाने में सहायक होते हैं।

महात्मा गांधी और उनके प्रभाव में नेशनल कांग्रेस द्वारा अपनायी गयी सांस्कृतिक नीति का मुख्य पत्थर, भारत की राष्ट्र भाषा के रूप में हिंदुस्तानी थी। संपूर्ण भारत की अक्सर यात्राओं के समय जनता से घनिष्ट संपर्क द्वारा उन्हें यह अनुभव हुआ कि हिंदुस्तानी भारत की मध्य भूमि के एक करोड़ से अधिक लोगों की मातृभाषा थी और अन्य क्षेत्रों के और अधिक लोगों द्वारा समझी जाती थी। इसलिए उन्होंने कांग्रेस में यह सुझाव प्रस्तुत किया कि उसे उर्दू और हिंदी के लिये अलग अलग परशियन और

देवनागरी लिपि में उपयोग की जाने वाली, राष्ट्रभाषा घोषित किया जाये। इस नीति का कड़ा विरोध, अनेक हिंदुओं के द्वारा हुआ और आश्चर्य कि अधिकांश मुसलमान जिनको संतुष्ट करने के लिये यह नीति निर्धारित की गयी थी, महात्मा गांधी ने राष्ट्रीयतावादी मुसलमानों के सहयोग से सांप्रदायिक सद्भावना का जो वातावरण उत्पन्न किया था, उसे बिगाड़ने और सांघातिक कलह प्रारंभ करने के लिए, मुख्य रूप से उत्तरदायी रहे।

यद्यपि महात्मा गांधी को अपने उद्देश्यों में कुछ सफलता दृष्टिगोचर हुई, किंतु इस घातक लड़ाई के कारण वह पूर्ण नहीं थी। उन्होंने निश्चित ही 40 वर्षों से कम समय में भारत को उस ताकत से मुक्त किया जो उस काल के प्रारंभ में दुनिया में सबसे बड़ी शक्तिशाली शक्ति थी। उन्होंने बहुत से मुसलमानों और अधिकांश हिंदुओं को निश्चित ही एक राष्ट्र में संबद्ध कर दिया। किंतु उन्हें भारत की एक चौथाई जमीन और एक पंचमांश जनसंख्या खोने का मूल्य चुकाना पड़ा, जिसने एक स्वतंत्र राज्य पाकिस्तान का स्थान ग्रहण कर लिया।

मुसलमान विरोधी भावनाओं के वातावरण में जो भारत के विभाजन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में फैला तथा उसके बाद, होने वाले खूनी दंगों के कारण महात्मा गांधी की मुसलमान के लिए समझौतावादी नीति ने अनेक हिंदू समर्थक खो दिये और महात्मा गांधी की मृत्यु के बाद, विधानसभा ने कांग्रेस के बहुमत से देवनागरी लिपि में हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया, इस प्रावधान के साथ कि हिंदी को आम बोली अर्थात् हिंदुस्तानी के जितना निकट संभव हो सके, रखने का प्रयत्न किया जाये।

जब संविधान में भाषा का अंश सम्मिलित कर लिया गया तब वे सब जिसमें मुसलमान भी थे और उसके विरोध में थे यथासंभव शांत हो गये। कितु हिंदी के भावुक प्रचारकों ने केवल मुसलमानों के बीच नहीं बल्कि अन्य क्षेत्रीय भाषायें बोलने वालों के बीच भी समन्वयात्मक नीति न अपनाकर बड़ा असंतोष पैदा कर दिया। इसी प्रकार क्षेत्रीय भाषाओं के क्षेत्रों में अल्पसंख्यक बोलियों वाले, संबंधित बहुसंख्यकों के रुख से असंतुष्ट हुए। हम भाषा के प्रश्न की अगले अध्याय में और विस्तार से चर्चा करेंगे और यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच चलने वाला अनावश्यक तनाव कम किया जा सकता है।

यहां हमें यह बताना पड़ेगा कि सांस्कृतिक तनाव का एक दूसरा मोर्चा (शायद भाषा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली खतरे के साथ) वह है जहां उदारवादी और रुढ़िवादी तत्व एक दूसरे के सामने आते हैं। जनसंघ, हिंदू महासभा और राम राज्य परिषद् जो हिंदू राष्ट्रीयता की रूढ़िवादी परंपराएं चलाते हैं, के सिवा नेशनल कांग्रेस के प्रमुख व्यक्तियों में रूढ़िवादी गांधीवादी समूह है, जिसका उदारवादी समूह से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर गहरा मतभेद है। वर्तमान में पुराने साथियों के बीच मतभेद सतर्कता के लिए सकारात्मक कारण नहीं बनते, क्योंकि परस्पर प्रेम और सम्मान से वे नियंत्रित

रहते हैं, किंतु जब तक उनका समाधान नहीं होता, राष्ट्रीय एकता के गढ़ के रूप में सद्भावनापूर्ण राष्ट्रीय संस्कृति निर्मित करने का कार्य सही भावना में आवश्यक गति से आगे नहीं बढ़ सकेगा।

14. सांस्कृतिक एकता की संभावनाएं—वर्तमान स्थिति

यदि हम भारत की सांस्कृतिक स्थिति पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि यद्यपि विविधता में एकता का प्राचीन स्वरूप सुरक्षित है, किंतु एकता के आधारभूत रंग, धूमिल पड़ गये हैं और विविधता के सतही रंग अधिक उभर आये हैं। यदि हम समान आधारभूत बातों पर और अधिक जोर देते हुए, शीघ्र उस स्थिति को वापिस लाने के लिए परिश्रम नहीं करते, तो मूल स्वरूप का कोमल भावुकतापूर्ण संतुलन हमेशा के लिए समाप्त हो सकता है।

अब हम सांस्कृतिक एकता के लिए सभी अनुकूल और प्रतिकूल शक्तियों का आकलन करें, जो क्रियाशील हैं, और देखें कि अनुकूल शक्तियों को पुनः वापिस लाने और प्रतिकूल शक्तियों को रोकने के लिए क्या किया जा सकता है।

प्रतिकूल तथ्यों से प्रारंभ करने पर हम देखते हैं कि सांस्कृतिक एकता में सबसे प्रमुख रुकावट हैं विविध भाषाएं। जब यह कहा जाता है कि भारत में चार विभिन्न भाषाओं के परिवार में 14 क्षेत्रीय भाषाएं और अनेक बोलियां हैं, तब विदेशियों को मानना पड़ता है कि भारतीय एक नहीं हैं, बल्कि योरोप के निवासियों की भांति कुछ समान तत्व प्रदर्शित करते हुए, विभिन्न संस्कृतियों के साथ लोगों का एक रंग बिरंगा समुदाय है। जैसाकि हमने देखा है कि यद्यपि भारत में भाषाओं की विविधता उतनी अधिक है जितनी योरोप में और पोशाक, भोजन तथा रहने के सामान्य तरीकों से विविधताएं और भी अधिक हैं, किंतु आध्यात्मिक एवं भौतिक विचारों के समुदाय तथा सामाजिक प्रथाओं ने भारत को एक आंतरिक एकात्मकता दी है, जिससे योरोप अपरिचित है। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषायी बाधाओं के कारण भारत के विभिन्न भागों के लोग धर्म को छोड़कर सभी स्तरों पर साधारण तथा तुलनात्मक रूप से अजनबी के रूप में मिलते हैं। जब तक कि वे अंग्रेजी या हिंदी नहीं जानते, अहिंदी भाषी क्षेत्रों के लोग अपनी भाषा के क्षेत्र के बाहर अपनी बात समझा सकने में बहुत अधिक कठिनाई महसूस करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि वे नयी जगह पर कुछ समय बिताते हैं तो स्थानीय भाषा का काम चलाऊ ज्ञान हो जाता है किंतु समान धार्मिक आस्थाओं तथा सामान्य विचारों की पृष्ठभूमि के होते हुए भी वे अपने आसपास के लोगों के घनिष्ठ संपर्क में नहीं आ पाते, क्योंकि गहरे विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक समान भाषा का माध्यम नहीं है।

इसलिए जब तक कि एक संपर्क भाषा नहीं होती और संपूर्ण देश में उसका प्रचलन नहीं होता तब तक एक प्रभावशाली सांस्कृतिक एकता संभव नहीं है।

किंतु केवल विविध भाषाएं भारत की एकता के लिए सकारात्मक खतरा नहीं हो सकतीं, यदि भाषायी सांप्रदायिकता जो कई मामलों में अंध देशभक्ति बन जाती है उसके साथ न हो। हमारे सामाजिक अवयव में यह जहर है जो भाषायी राज्यों के आंदोलन को जन्म देता है और जो तार्किक, ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से तो पूरी तरह न्याय संगत है, किंतु जिनके हृदय में देश की अच्छाई निहित है, उन सबके लिए बड़े महत्व की बात है।

किसी भ्रम से बचने के लिए हमें स्पष्ट कर लेना चाहिए कि हम भाषायी सांप्रदायिकता से क्या समझते हैं। एक समान भाषा बोलने वाले लोगों के समूह की चेतना, जिससे वे अलग समुदाय बनाते हैं, स्वाभाविक और उपयुक्त है। किंतु यदि उनमें वह भावना निहित हो जाती है, कि उसी क्षेत्र या पास के क्षेत्र में रहने वाले देश के वे लोग जो भिन्न भाषा बोलते हैं, शब्द के सबसे अनुचित अर्थ में बाहरी हैं, और उनके साथ उसी तरह का व्यवहार करना चाहिए, तब वह भाषायी सांप्रदायिकता का भद्दा रूप बन जाता है, जो राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकर तथा अत्यधिक आपत्तिजनक है। इससे भी अधिक हानिकर एवं आपत्तिजनक बहुसंख्यक भाषा भाषियों की वह प्रवृति है, जिसके प्रभाव में वे संविधान के अंतर्गत अल्पसंख्यकों को उनकी भाषा और संस्कृति की सुरक्षा तथा उनके बच्चों को मातृभाषा के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा देने की जो गारंटी दी गयी है उसको रोकते हैं या शासकीय सेवाओं तथा अन्य मामलों में अल्पसंख्यकों के एक एक व्यक्ति से भेदभाव करते हैं। दुर्भाग्यवश भारत में विद्यमान यही अंधभक्ति है, जिसने दुखद स्थिति निर्मित की है। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बाद प्रत्येक राज्य में अल्पसंख्यक भाषा भाषियों की सांस्कृतिक तथा अन्य अधिकारों की बहुत से मामलों में अवहेलना की गयी है। इस तरह भाषा के आधार पर बने राज्यों की सीमा के पुनर्निधारण का प्रश्न विचार के लिए आता है। सीमा क्षेत्रों में सबसे खराब तनाव और झगड़े उत्पन्न होते हैं, जहां दो या अधिक भाषाओं वाले समूहों में से प्रत्येक समूह यह आंदोलन करता है कि उसके निवास के क्षेत्र को उस राज्य में सम्मिलित कर दिया जाये जहां की शासकीय भाषा उसकी मातृभाषा है। यदि प्रत्येक सीमा पर रहने वाले समुदायों को आश्वस्त कर दिया जाये कि उनका क्षेत्र जिस भी राज्य में जाये उसके साथ समान व्यवहार होगा और उनके सांविधानिक अधिकारों की रक्षा होगी तो इससे भाषायी राज्यों की समस्या के समाधान को रोकने वाली एक बहुत बड़ी कठिनाई दूर हो जायेगी।

कितु भाग्य से एक अनुकूल तथ्य है जो हमें आशान्वित करता है, कि भाषायी सांप्रदायिकता के खतरनाक परिणाम चरम सीमा तक नहीं पहुंचेंगे और देश के राजनैतिक विघटन का कारण नहीं बनेंगे, क्योंकि विरोधी समुदायों और क्षेत्रों को केंद्रीय सरकार पर

लगभग पूरा विश्वास है और सांस्कृतिक तथा अन्य मतभेदों के समाधान के लिए वे उसके मार्ग दर्शन को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। यह एक बड़ी धरोहर है, जिसे यदि तरीके से दृढ़तापूर्वक उपयोग किया जाये तो विवेकपूर्ण भाषायी नीतियों की आशा की जा सकती है, जो प्रत्येक राज्य के साथ संपूर्ण रूप से देश में सांस्कृतिक सद्भावना बढ़ाने के लिए तैयार की गयी हो।

भारत में सर्वोच्च सांस्कृतिक एकता के लिए क्रियान्वित होने वाला एक दूसरा शक्तिशाली तथ्य है राजनैतिक विचारों का समुदाय जो पिछले 60 या 70 वर्षों में विकसित हुआ है। ब्रिटिश सरकार ने भारत का जो भी नुकसान किया है, उसकी पूर्ति स्वतंत्र प्रजातांत्रिक व्यक्तियों के संपर्क के द्वारा देश में आयी—आधुनिक प्रजातत्र के सिद्धांत और व्यवहार की सुव्यवस्थित शिक्षा के द्वारा एक आशीर्वाद के रूप में हुई। यद्यपि प्रजातंत्र के दार्शनिक आधार के अध्ययन तथा ज्ञानमय उदार दृष्टिकोण, जो उसने पैदा किया, कुछ बुद्धिजीवी लोगों तक ही सीमित रहा, किंतु प्रतिनिधि शासन के प्रचलित तात्कालिक तरीकों के व्यावहारिक प्रशिक्षण ने जो भारतीयों को हर स्तर पर मिला, जबसे लार्ड रिपन ने स्थानीय स्वायत्त शासन प्रणाली प्रवर्तित की, बहुत बड़ी संख्या में भारतीयों को समान राजनैतिक दृष्टिकोण दिया, जो कि पूर्वी देशों में बहुत कम था और पश्चिमी देशों में बहुत अधिक प्रचलित नहीं था।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के अन्य प्रभाव भी भारत में शिक्षित लोगों के जीवन और विचारों को समान तत्व प्रदान करते हैं और एकता की मूल्यवान शक्ति के रूप में कार्य करते हैं। अंग्रेजी भाषा भारत के विभिन्न भागों के लोगों के बीच उच्च बौद्धिक स्तर पर संप्रेषण का आम माध्यम थी और कुछ समय तक वह यह स्थिति बनाये रखेगी, ऐसी संभावना है, जब तक कि हिंदी देश भर में लोकप्रिय नहीं बन जाती तथा वैज्ञानिक विचारों को स्पष्ट और सूक्ष्म रूप में व्यक्त करने के लिए उसका समुचित विकास नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त पिछली शताब्दी के करीब-करीब अंत में, देश में बढ़ते हुए स्वतंत्रता आंदोलन से प्रभावित आधुनिक शिक्षित समाज ने, औपनिवेशिक सभ्यता की दासता के मूल अनुकरण से बदलकर, अंग्रेजी संस्कृति के विवेकपूर्ण उत्तम तत्वों को स्पष्ट रूप से आत्मसात कर लिया। अब वह पाश्चात्य वैज्ञानिक मानसिक प्रवृति को जीवन का उदार दृष्टिकोण बनाने तथा आर्थिक तथ्यों की उपयुक्त मान्यता को मानसिक संरचना का मूल आधार बनाने का प्रयत्न कर रहा है।

स्वस्थ आधुनिकता की ओर इस नयी प्रवृति को यदि उपयुक्त ढंग से राष्ट्रीय जीवन में संयोजित किया जाये तो वह सभी सांस्कृतिक समुदायों के मिलन-स्थल का कार्य कर सकती है और समन्वयपूर्ण राष्ट्रीय संस्कृति उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। हमारे राजनैतिक, आर्थिक विकास के लिए आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के आधारभूत सिद्धांतों को आत्मसात करना और भी महत्वपूर्ण है। केवल उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर,

सामाजिक, प्रजातांत्रिक धर्म-निरपेक्ष राज्य और नियोजित औद्योगिक अर्थव्यवस्था की, जिन्हें हमने अपने लिए चुना है, सुरक्षा के साथ नींव डाली जा सकती है।

यद्यपि अंतिम, किंतु किसी भी तरह सांस्कृतिक एकता के लिए कम अनुकूल यह तथ्य है कि हिंदुत्व बहुत बड़ी संख्या के लोगों के लिए एक आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विचारों तथा प्रथाओं का एक समुदाय उत्पन्न करता है, जो और अधिक स्पष्ट तब हो जायेगा, जब समान राष्ट्र भाषा संबंधी बाधाओं को हटा देगी। तब समान राष्ट्रीय संस्कृति की समस्या तुलनात्मक रूप से हिंदुत्व और धार्मिक अल्पसंख्यकों के बीच पारस्परिक सद्भावना का छोटा प्रश्न बन जायेगी, कि छोटे अल्पसंख्यकों, जैसे सिखों, क्रिश्चियनों तथा पारसियों ने पहले से ही हिंदुत्व के साथ सामंज्य कर लिया है या ऐसा सरलता से कर लेंगे, सभी के द्वारा मान्य होगा। यह केवल सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय, मुसलमानों, का मामला है, क्योंकि बहुत से लोग संदेह करते हैं कि वे सामान्य सांस्कृतिक जीवन पद्धति, जिसके भारत में विकसित होने की संभावना है, के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे। इस तर्क से कि मुसलमान एक बार समान हिंदुस्तानी संस्कृति में हिदुओं के साथ हो गये थे, और ऐसा फिर कर सकते हैं, संदेह दूर नहीं होता। विभाजन के लिए मुसलमानों का संपूर्ण मामला इस मार्ग पर आधारित था कि मुसलमानों की हिंदुओं से पूरी तरह भिन्न संस्कृति है और इसलिए एक अलग राष्ट्र होगा या बनाया जाये। इस तरह हमारे लिए यह आवश्यक है कि हिदुओं और मुसलमानों की आज की बुनियादी सांस्कृतिक स्थितियों का मूल्यांकन किया जाये और देखा जाये कि किस सीमा तक उनमें सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

जहां तक हिंदू और मुसलमान संस्कृतियों के वास्तविक तत्वों का संबंध है उनका सहज ही अवलोकन और वर्णन हो सकता है, किंतु अति सूक्ष्म व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ मानसिक तत्वों को जो प्रत्येक की अनुप्राणित आत्मा को प्रकट करते हैं, स्पष्ट करना कठिन है, विशेषकर अब जबकि दोनों संक्रमण काल और आंतरिक विरोधाभासों से गुजर रहे हैं। यह कवि का कार्य है, जिसका मन युग का प्रतिबिंब होता है और जिसकी वाणी जनता की वाणी होती है। भाग्य से हमारे समय में ऐसे दो कवि थे, हिंदुओं में टैगोर और इकबाल मुसलमानों में। वर्तमान समय की हिंदू संस्कृति की आत्मा को टैगोर से अच्छा और मुसलमान संस्कृति की आत्मा को इकबाल से अच्छा और कोई नहीं समझ सका था। यह मुख्य रूप से उनकी ही प्रेरणा थी कि नयी सांस्कृतिक चेतना उनके अपने अपने समाज के अस्तित्व में आयी।

जैसाकि हमने पूर्व में बताया कि विविधता में एकता का अंतर्मुखी बोध भारतीय मान का एक बुनियादी लक्षण है। एक केंद्र बिंदु की ओर अभिमुख होने वाले विविध रूपों की यह चेतना जो उन्हें वास्तविकता और जीवन प्रदान करती है, वास्तव में एक धार्मिक अनुभूति है। इस तरह भारतीय चरित्र की इस अलग विशिष्टता को धार्मिकता

कहा जा सकता है। यर्थाथ में नैतिक मूल्यों की भारतीय समाकृति धार्मिक मूल्य तथा अन्य मूल्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला विभिन्न सकेंद्रित चक्रों का एक केंद्र है। आज भी जब धार्मिक चेतना की धारा ने रूढ़िवादियों के मस्तिष्क में एक स्थिर जलाशय तथा आधुनिक शिक्षित व्यक्तियों में उथले नाले का रूप ले लिया है,तब धार्मिक आवेग इतना शक्तिशाली हो गया है कि कोई भी ऐसे जीवन दर्शन के बारे में सोच भी नहीं सकता,जो धर्म पर आधारित नहीं है।

जैसाकि हमने देखा है कि हिंदुओं में सभी नये बौद्धिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित थे और उनके नेताओं ने जीवन पद्धति में धर्म को वही स्थान दिया जो ब्रह्मांड में सूर्य का है। उनमें सबसे उदारवादी और रूढ़िवादिता के विरोधी टैगोर थे। उन्होंने अपने मस्तिष्क के सभी द्वार आधुनिक पाश्चात्य दुनिया से आने वाले नये ज्ञान के प्रकाश के लिए खोल दिए थे,जो प्रकृति के रहस्यों,उनकी भीषण शक्तियों और नियमों को,जो इन शक्तियों को नियंत्रित करते हैं,तथा मनुष्य के भौतिक कल्याण के लिए उन्हें उपयोग करने की कला को उद्घाटित करते हैं। किंतु इस फाउस्ट के आदर्श ने उन्हें संतुष्ट नहीं किया क्योंकि वह दृश्य जगत के पीछे की वास्तविकता से जीवंत और घनिष्ठ संपर्क स्थापित करने का रास्ता बताने में असफल रहा, जिसके लिए उनकी भारतीय आत्मा लालायित थी। इसलिए उन्हें प्राचीन उपनिषदों,जो विगत 2,500 वर्षों से सत्य की खोज करने वालों का मार्गदर्शन कर रहे थे,की ओर झुकना पड़ा। प्रकृति के संसार और कलाकार के बीच संबंधों पर बोलते हुए टैगोर हमें इस संसार की महिमा की झलक देते हैं—संसार पूछता है—"मित्र क्या तुमने मुझे देखा है ? क्या तुम मुझे प्रेम करते हो ? उस रूप में नहीं जो तुम्हें भोजन और फल प्रदान करता है,उस रूप में नहीं जिसके नियम तुमने जान लिए हैं,बल्कि एक उस रूप में जो अपना वैयक्तिक है।" कलाकार उत्तर देता है—"हां मैंने तुम्हें देखा है। मैंने तुम्हें पहचान लिया है और तुम्हें प्यार करता हूं—इसलिए नहीं कि मुझे तुम्हारी कोई आवश्यकता है,इसलिए नहीं कि मैंने तुम्हें माना है और तुम्हारे नियमों का अपने अधिकार के लिए उपयोग किया है। मैं उन शक्तियों को जानता हूं जो क्रियान्वित होती हैं,चलाती हैं तथा सत्ता की ओर ले जाती हैं। किंतु यह वह नहीं है। मैं तुम्हें देखता हूं जहां तुम हो और मैं क्या हूं।"[1]

चरम अवस्था की यही उपलब्धि मेरे और तुम्हारे बीच के भेद को समाप्त करती है जो हिंदुओं के धर्म दर्शन का केंद्र बिंदु है और उनके लिए सर्वोच्च नैतिक मूल्य है।

अब जहां तक मुसलमानों का संबंध है,रूढ़िवादी वर्ग अवश्य ही धर्म को समस्त सांस्कृतिक जीवन की धुरी मानता है,किंतु आधुनिक शिक्षित वर्ग में भी किसी महत्वपूर्ण विचारक ने संस्कृति का आधार धर्म के अलावा और कुछ नहीं सोचा। आधुनिक धार्मिक विचारों के सबसे बड़े प्रतीक इकबाल थे। वे धार्मिक व्यक्ति नहीं बल्कि दार्शनिक और

1 Tagore, Personality—p 22 quoted by Radhakrishnan in The Philosophy of Rabindranath Tagore, Macmillan pp. 130-1

कवि थे। एक ऐसे व्यक्ति जिन्होंने अपनी उच्च शिक्षा इंग्लैंड और जर्मनी में प्राप्त की और वे पाश्चात्य विचारों के प्रति टैगोर की अपेक्षा अधिक खुले हुए थे और सांस्कृतिक समस्याओं के संबंध में उनका मत अधिक वैज्ञानिक और आलोचक था। किंतु धर्म के महत्व के बारे में वे उसी निष्कर्ष पर पहुंचे जिस पर टैगोर थे।

धर्म एक विभागीय कार्य नहीं, वह मात्र विचार नहीं, न केवल अनुभूति और न मात्र क्रिया है। इसलिए धर्म के मूल्यांकन में दर्शन को धर्म की आधारभूत स्थिति के रूप में अवश्य मानना चाहिए और उसे सकेंद्रित चिंतनशील विश्लेषण की प्रक्रिया के किसी रूप में स्वीकार करने के सिवा इसके पास और कोई दूसरा विकल्प नहीं है।[1]

जैसाकि टैगोर के लिए उसी प्रकार इकबाल के लिए धर्म की मूल प्रकृति मनुष्य का चरम वास्तविकता के साथ संबंध है। उनके अनुसार, "कुरान का मुख्य उद्देश्य मनुष्य में उसके ईश्वर और ब्रह्मांड के साथ विविध संबंधों की उच्च चेतना को जागृत करना है।"[2]

इसका अर्थ यह है कि हिंदू और मुसलमानों की आधारभूत धार्मिक अनुभूति उनके द्वारा बौद्धिक विश्लेषण किये जाने के पूर्व लगभग उतनी ही समानता लिए हुए है, जैसी कि मध्य युग में हिंदू भक्तों और मुसलमान सूफियों के मस्तिष्क में थी।

किंतु हिंदू और मुसलमान मस्तिष्क के लिए सूक्ष्म क्षणिक आध्यात्मिक अनुभूति की, जब इन दो कवियों द्वारा बौद्धिक पदों में व्याख्या की जाती है, तो चरम वास्तविकता की अवधारणाएं सामने आती हैं, जो एक दूसरे से भिन्न होती हैं। सतही दृष्टाओं को टैगोर चरम वास्तविकता को पूर्णतया वैयक्तिक रूप में ईश्वर मानने वाले लग सकते हैं। (जैसे माधवाचार्य, रामानंद, कबीर, चैतन्य आदि भक्ति के बड़े प्रचारकों ने किया है) किंतु वे हिंदू मस्तिष्क की सबसे बाद की प्रवृति से गहराई से प्रभावित थे, यह मानने के लिए कि ईश्वर की अवधारणा भक्ति में और ब्रह्म के वेदांत में एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में है, जबकि वे अक्सर ईश्वर का परमप्रिय के रूप में उल्लेख करते हैं जिनके लिए मनुष्य की आत्मा लालायित है। ईश्वर के बारे में वे यह भी कहते हैं कि वह संभावनाओं से परे और नाम एवं रूप से मुक्त है।

एक स्थान पर टैगोर कहते हैं, "किंतु वहां जहां अनंत आकाश फैला है, आत्मा के उड़ान भरने के लिए दोषहीन शुभ्रकांति का राज्य है। वहां न दिन है न रात, न रूप, न रंग और शब्द कभी नहीं, कभी नहीं।"

इसी प्रकार टैगोर के दर्शन में मनुष्य और ईश्वर के संबंध के दो पहलू हैं व्यक्तिगत ईश्वर के सामने मनुष्य की आत्मा अपने अस्तित्व के लिए सचेत रहती है, किंतु परमतत्व के संबंध में अपने को अस्तित्वहीन मानती है—एक चरम वास्तविकता के अलावा। वे कहते हैं, "प्रेम में एक सिरे पर वैयक्तिकता और दूसरे पर अवैयक्तिकता पायेंगे। एक सकारात्मकता पर जोर है कि यहां मैं हूं और दूसरी ओर इंकार कि मैं नहीं हूं बिना अहम्

1 Iqbal, Reconstruction of Religious Thought in Islam, p. 2
2 Iqbal, Ibil, p. 8

के प्रेम क्या है ? और फिर केवल इस अहम् से प्रेम कैसे संभव हो सकता है ।[1]

ईश्वर की अवधारणा तथा ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंध की यह दोहरी स्थिति डॉ. राधाकृष्णन् द्वारा इस प्रकार समझाई गयी है—"जब मनुष्य अपनी सीमित बौद्धिक क्षमताओं के द्वारा सर्वोच्च सत्ता की संभावना करता है तब वह व्यक्तिगत ईश्वर की धारणा के बाहर नहीं जा सकता, जिसको वह स्वयं से अलग एक अस्तित्व मानता है। किंतु जब वह बौद्धिक स्तर से धार्मिक अंतर्दृष्टि में जाता है, तब वह ईश्वर, मनुष्य और ब्रह्मांड की पूर्ण पहचान के प्रति सचेत रहता है।"

इकबाल के दर्शन में चरम वास्तविकता की धारणा वास्तव में दो विचारधाराओं का सम्मिलन है—(1) मुसलमान सूफियों का शहीदी पंथ, जिन्होंने अपने विचार कुरान से प्राप्त किये, (2) नीत्से और बर्गसां के आधुनिक योरोपीय दर्शन को इकबाल ने एक पूर्ण समन्वय में समाहित करने का प्रयत्न किया है। शब्दों के उच्च अर्थों में वे चरम वास्तविकता को एक 'व्यक्तित्व' मानते हैं। अनुभव की हमारी विवेचना चरम वास्तविकता को एक विवेकपूर्ण ढंग से संचालित जीवन के रूप में प्रकट करती है, जो हमारे जीवन के अनुभव की दृष्टि से, एक पूर्ण अवयव, कुछ ऐसा कि जो अभिन्न रूप से एक साथ जुड़ा हुआ है और जिसमें संदर्भ के रूप में एक केंद्र बिंदु है, के सिवा और कुछ सोचा नहीं जा सकता। जीवन की यह विशेषता होते हुए, अंतिम रूप से जीवन को केवल एक अहम् ही माना जा सकता है।"[1]

किंतु इकबाल चरम सत्ता और मनुष्य की वैयक्तिकता के बीच अनुरूपता के विरुद्ध चेतावनी देते हैं। चरम वास्तविकता विवेकपूर्ण संचालित रचनात्मक जीवन है। इस जीवन की अहम् के रूप में व्याख्या करना मनुष्य की छवि पर ईश्वर को गढ़ना नहीं है। वह केवल अनुभूति का साधारण तथ्य स्वीकार करना है, कि जीवन आकारहीन तरल नहीं है, बल्कि एकता का संगठनात्मक सिद्धांत, एक संश्लेषित क्रिया, जो एक साथ बांधे रखती है तथा रचनात्मक कार्य के लिए जीवंत अवयव की विक्षेपी व्यवस्था को केंद्रित करती है।[2]

इससे हमें टैगोर और इकबाल द्वारा आधारभूत धार्मिक अनुभूतियों के संबंध में दी गयी व्याख्याओं के अंतर का कुछ ज्ञान होता है। टैगोर के ईश्वर मूल रूप से वेदांत के ब्रह्म हैं : वैयक्तिक ईश्वर जो उनकी कविता को जीवन और आनंद प्रदान करते हैं, उनके लिए वास्तविकता की हीन धारणा है, जिस पर मनुष्य की सीमित बुद्धि की साधारणतया पहुंच है। दूसरी ओर इकबाल के लिए ईश्वर की सच्ची धारणा व्यक्तित्व की एकात्मकता है। चैतन्यवादी अद्वैतवाद वेदांत के अद्वैतवाद से काफी मिलता-जुलता है, जिस पर बहुत से सूफी विश्वास करते थे। इकबाल के द्वारा, सत्य की खोज में एक मध्यवर्ती व्यक्तिनिष्ठ अवस्था को 'हृदय की अवस्था' के रूप में माना गया है। इस तरह टैगोर एवं

---

1 Gitanjali, p. 67 quoted by Radhakrishnan op cit p. 47
2 Sadhana, pp. 114-15 quoted by Radhakrishnan Ibid p 53.

इकबाल दोनों ईश्वरवादी तथा अद्वैतवादी धारणा को स्वीकार करते हैं। अंतर, इन धारणाओं के तुलनात्मक मूल्य के उनके आकलन में निहित है।

किंतु इकबाल और टैगोर के बुनियादी दार्शनिक विचारों की तुलना करने के पूर्व हमें इस बात पर जोर देना होगा कि हिंदुओं और मुसलमानों की धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना के बीच अंतर, जो उनके दर्शन प्रकट करते हैं, केवल विशुद्ध बौद्धिकता के स्तर पर हैं। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के वास्तविक धार्मिक जीवन में, जो प्रत्यक्ष भावनात्मक, अनुभूतियों से निर्धारित होते हैं, चैतन्यवादी अद्वैतवाद और ईश्वरवाद समान मूल्य के माने जाते हैं और बिना किसी भेदभाव के मान की उपासक अवस्था को प्रेरित करने के उद्देश्य से उपयोग किये जाते हैं, जिसे बहुत से लोग धर्म का सार तत्व मानते हैं। बिना नाम या रूप की चरम सत्ता का वर्णन करने वाले वैदिक लिपियों या गीता के श्लोकों को हिदू उतनी ही गहन तन्मयता से गाते या सुनते हैं, जितना की वैयक्तिक ईश्वर या उनके किसी एक अवतार के प्रति प्रेम और समर्पण के प्रशंसात्मक भावोद्‌गारों को। उसी प्रकार मुसलमान अल्लाह की इबादत करता है या उसकी प्रशंसा में आयतें गाता है, उसी समर्पण और आह्लादपूर्ण भक्ति के साथ जिसमें वह सूफी कवियों की कविताएं सार्वलौकिक भावना से देवता की अलग पहचान बताते हुए गाता है, जो मनुष्य के साथ विश्व रचना को अभिव्यक्त करता है। अधिकांश हिंदू भजनों (भक्ति गीतों) को, मुस्लिम हक्कानी गीतों में (ईश्वर के गुणगान में कविताएं) परिवर्तित किया जा सकता है, सिर्फ हिदू देवता के स्थान पर अल्लाह का नाम लगाकर या इसका उल्टा हो सकता है। इससे और अधिक यह है कि आमतौर से ऐसा देखा जाता है, कि हिंदू और मुसलमान एक दूसरे की लोकप्रिय संगीत सभाओं, कव्वाली और भजन मंडली में भाग लेते हैं और भक्ति भाव से प्रभावित होते हैं, इस तथ्य के बावजूद भी कि उनके औपचारिक भक्ति के तरीके और कर्मकांडों की विधियां बिल्कुल भिन्न होती हैं।

टैगोर और इकबाल के धर्मदर्शनों के बीच वास्तविक अंतर, उनकी मनुष्य के व्यक्तित्व के संबंध में धारणाओं और मनुष्य तथा ईश्वर के बीच संबंधों में देखा जाता है। टैगोर व्यक्ति के व्यक्तित्व को मानवीय दृष्टिकोण से वास्तविक किंतु चरम सत्य की दृष्टि से अवास्तविक मानते हैं। वास्तविकता का जो भी रूप, एक व्यक्ति के मन में है, असीम से ससीम में प्रतिबिंबित होता है। उसका प्रारब्ध अपने को असीम में विलीन कर लेता है। उसके प्रारब्ध की ओर वह जो प्रत्येक कदम उठाता है उससे वास्तविकता बढ़ती है किंतु व्यक्तिगत सत्ता घटती है। अंतिम रूप से स्व का समर्पण स्वर्गीय सुख की उच्चतम स्थिति है। "मनुष्य का स्थायी सुख कुछ पाने में नहीं बल्कि अपने आपको उस सीमा तक देने में है, जो उससे स्वयं से बड़ा है।"[1]

दूसरी ओर इकबाल व्यक्तित्व के ससीम व्यक्तित्व को उतना ही वास्तविक मानते

1 Tagore, Sadhana p. 152 quoted by Radhakrishnan, op. cit. p. 72.

हैं, जितना कि परमतत्व की असीम सत्ता को। असीम के निकट आने पर ससीम मानव अपनी व्यक्तिगत सत्ता नहीं खोता। इसके विपरीत उसकी व्यक्तिगत सत्ता अधिक पूर्ण और अधिक स्पष्ट हो जाती है। वह तार्किक कठिनाई को हल करता है, जो व्यक्ति के मानसिक चिंतन में उठती है, ससीम से संबद्ध होकर इस तरह अपनी असीमता कायम रखते हुये। "यह कठिनाई ससीम की सही प्रकृति की नासमझी पर आधारित है। वास्तविक असीमता का अर्थ असीम विस्तार नहीं, जिसकी समस्त उपलब्ध विस्तारों को अपनाये बिना कल्पना नहीं की जा सकती। उसकी प्रकृति गहनता में है विस्तारवाद में नहीं और जैसे ही हम अपना मापदंड गहनता पर रखते हैं, हम देखने लगते हैं कि ससीम अहम् स्पष्ट है, यद्यपि असीम से अलग नहीं।"[1]

टैगोर के दर्शन में ब्रह्मांड की कल्पना ज्यों की त्यों वेदांत से ली गयी है। उनके अनुसार भौतिक दुनिया परम तत्व की दृश्यमान स्थिति है और इस तरह उसका संबंधित अस्तित्व होता है। ससीम मानव मन स्वतंत्र सत्ता बनने के लिए उसे वैसा ही मानता है जैसा स्वयं को। किंतु यह एक भ्रम, माया है। स्व और स्व रहित मनुष्य और भौतिक संसार उसी चरम वास्तविकता के दो पहलू हैं, एक सक्रिय है तथा दूसरा निष्क्रिय। भौतिक संसार वह क्षेत्र है, जिसमें स्व अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग करता है। यह शक्ति अपने को संघर्ष में नहीं बल्कि भौतिक संसार से घनिष्ठ संबंध के रूप में व्यक्त करती है। "जब मनुष्य संसार के साथ अपने निकट संबंध स्थापित नहीं करता तब वह अपने को जेल घर में महसूस करता है। जिसकी दीवारें उसे शत्रुवत् मालूम पड़ती हैं। जब वह सभी वस्तुओं से अनंत भावना से मिलता है, तब वह मुक्त होता है, क्योंकि तब उसे संसार, जिसमें वह पैदा हुआ है, उसका पूरा महत्व उसे ज्ञात होता है, तब वह अपने को पूर्ण सत्य की स्थिति में पाता है और उसके साथ उसका सामंजस्य स्थापित हो जाता है।"[2]

इकबाल को चरम वास्तविकता के समान ब्रह्मांड की धारणा कुछ अंशों में कुरान से आधुनिक जैवशक्तिवादी दर्शन से ली गयी है। इकबाल के लिए प्रकृति संसार में वास्तविकता है, कुछ इस तरह नहीं कि ईश्वर के विरुद्ध है, बल्कि 'ईश्वर की प्रकृति' के रूप में। यह "शून्य का स्थान लेने वाला विशुद्ध पदार्थवादिता का पिड नहीं है। यह घटनाओं का एक स्वरूप, व्यवहार का व्यवस्थित तरीका और इस तरह से चरम सत्ता का एक महत्वपूर्ण अवयव है। जिस प्रकार चरित्र मनुष्य के लिए होता है, उसी प्रकार दैवी आत्मा के लिए प्रकृति है।"[3]

फिर भी ससीम मानव मन भौतिक संसार को उनका विरोधी मानता है और उस पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। संसार का उसका ज्ञान निष्क्रिय नहीं बल्कि गतिशील है। यह एक पकार की 'अंतर्दृष्टि' है, जो अंतर्बोध से परे है। यह अंतर्दृष्टि

---

1 Iqbal, op. cit. p 118
2 Tagore, Sadhana p. 8, quoted by Radhakrishnan op. cit p 19.
3 Iqbal, op cit. p 53-4.

लौकिक, आकाशीय और वस्तुओं के कभी कभी के संबंधों के अहम् का मूल्यांकन है—समष्टि की संपूर्णता में, गंतव्य या उद्देश्य की दृष्टि से, वस्तुओं का चयन जो अहम् ने अपने सामने अभी हाल के लिए निर्धारित किया है। सोद्देश्य कार्य के अर्थ में प्रयत्न करने का यही अर्थ है और साध्य पर पहुंचने में मैंने वास्तव में जो सफलता प्राप्त की है, वह मुझे व्यक्तिगत कारण से मेरी क्षमता के प्रति आश्वस्त करती है।

इसीलिए इकबाल 'अधीनीकरण' पद का प्रयोग मनुष्य की प्रकृति के अंतर्बोध के लिए करते हैं और इसी 'अधीनीकरण' को अपनी वैयक्तिकता को एकीकृत करने के माध्यम के रूप में मानते हैं।

ईश्वर के संबंध में टैगोर और इकबाल के विचारों में मनुष्य और संसार उनके जीवन दर्शन में प्रतिबिंबित हैं। टैगोर के लिए जैसाकि हमने पाया, मनुष्य के जीवन का आदर्श यह है जो उपनिषद् के समय से हिंदू मस्तिष्क पर हावी रहा। "अज्ञानता का आवरण हटाने पर जिससे मनुष्य और भौतिक दुनिया की दो अलग अलग सत्ताएं प्रकट होती हैं, तथा चरम सत्य की अनुभूति होती है कि केवल एक ही सत्ता है और वह परमतत्व की है।" "भारत के विशेष विचारों में यह माना जाता है कि मनुष्य का सच्चा अवतरण अविद्या से अज्ञानता से है। वह कुछ नष्ट करने के लिए नहीं जो साकार रूप में और यथार्थ है, क्योंकि वह संभव नहीं हो सकता, किंतु वह जो निषेधात्मक है वह हमारी सत्य की दृष्टि में बाधा उत्पन्न करती है। जब यह अज्ञानता की बाधा हटा ली जाती है तभी आंख की पलकें ऊपर उठायी जाती हैं जिनसे आंखों को कोई हानि नहीं होती है।"[1] केवल तब ही वह चरम सत्य को प्राप्त करता है।

यह महान उद्देश्य इंद्रियों और तर्क के द्वारा नहीं बल्कि अविवेकपूर्ण विद्या, जिसे अंतर्दृष्टि कहा जाता है, के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने के लिए बौद्धिक विद्याओं को नियंत्रण में रखना तथा रहस्यमय चेतना को तपश्चर्या आत्म संयम के द्वारा जागृत रखना जरूरी है। यह धार्मिक आदर्श मानव जीवन के नैतिक आदर्श निर्धारित करता है। एकात्मकता के सर्वोच्च सत्य की अनुभूति हममें यह भावना उत्पन्न करती है कि सभी मनुष्य एक ही वास्तविकता की अभिव्यक्ति हैं। इसलिए अन्य को हम अपने साथ एक मानते हैं, और उनको प्रेम करने तथा उनकी सेवा में अपने को समर्पित करते हैं। सभी पुण्यों की यह जड़ है। विवादास्पद ढंग से मनुष्यों के बीच भेद करना, अपने को दूसरों से अलग मानना और व्यक्तिगत इच्छाओं को प्रोत्साहित करना सभी पापों का मूल है। "ये हमारी इच्छाएं हैं जो आत्मानुभूति की संभावनाओं को सीमित करती हैं, हमारी चेतना के विस्तार को रोकती हैं और पाप को बढ़ाती हैं, जो सबसे बड़ी आंतरिक बाधा है जो संबंध विच्छेद और अकेलेपन का दंभ उत्पन्न करते हुए, हमें अपने ईश्वर से अलग रखती है, क्योंकि पाप मात्र एक क्रिया नहीं

1. Tagore, Sadhana p. 72, quoted by Radhakrishnan, op. cit. pp. 112-13,

है, बल्कि वह जीवन की प्रवृति है, जो यह मानकर चलती है, कि हमारा ध्येय सीमित है, हमारा स्व चरम सत्य है और हम मूल रूप से एक नहीं हैं बल्कि प्रत्येक अपने स्वयं के अलग अलग व्यक्तिगत अस्तित्व के लिए है।"[1]

कविता का यह कार्य है कि वह मनुष्य को दोषपूर्ण व्यक्तिगत इच्छाओं से मुक्त करे। "हम (कवि) मनुष्यों को उनकी इच्छाओं से मुक्त करते हैं।"[2] कलाकार स्वयं इच्छा से केवल तभी मुक्त हो सकता है जब वह अलग व्यक्ति के रूप में अपने अस्तित्व के भ्रम को त्याग दे और स्व तथा स्वहीन के बीच के भेद को दूर कर दे, तब वह ब्रह्मांड को कह सकता है, "मैं तुम्हें देखता हूं तुम कहां हो, मैं क्या हूं।"[3]

यह वास्तविकता की दृष्टि का स्वर्गीय सुख है जो कला और कविता की आत्मा है। प्राचीन भारत में साहित्य शास्त्रियों को यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं थी कि आनंद साहित्य की आत्मा है, आनंद जिसकी इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है।"[4]

अब हम यदि इकबाल के जीवन दर्शन की ओर देखें तो हम ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे हम सत् के क्षेत्र से संभवन में तथा विश्राम की दुनिया से संघर्ष में ले जाये गये हों। अपने तरीके से टैगोर ने भी कर्म पर अधिक जोर दिया है, परंतु उनकी गतिशीलता एक बाहरी तथ्य है, उनके मूल दर्शन का महत्वपूर्ण अंग नहीं। इकबाल की जीवन दृष्टि में क्रियाएं और संघर्ष संपूर्ण ढांचे का मूल पत्थर बनाते हैं। उनके लिए मानव जीवन का आदर्श उसके स्व को स्वहीनता में विलीन करना नहीं बल्कि स्व का दाब और समेकन है। वे ईश्वर को निरपेक्ष आत्मा, व्यक्ति का आदि रूप मानते हैं। मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विस्तार और समेकन के द्वारा अपने को दैवी रूप में ढालने के लिए यथासंभव प्रयत्न करना होगा। इस तरह उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह अपने चारों ओर रचनात्मक रूप में विश्व के अस्तित्व को महसूस करें अर्थात् प्रकृति की शक्तियों और उनकी क्रिया के नियमों को जानने तथा उनका अपने कार्य के लिए उपयोग करने हेतु। बेहतर जीवन की कल्पना की शक्ति से संपन्न, किसमें क्या है और क्या होना चाहिए के अनुसार अपने को ढालने के लिए, उसका अहम् अधिकाधिक अद्वितीय और व्यापक व्यक्तित्व के लिए आकांक्षा करना है, जिससे वह विभिन्न पर्यावरणों का, जिनमें अंतहीन जीवन वृत्ति के लिए उसे कार्य करना पड़े, उपयोग कर सकें।"[5]

यथार्थ की संभावना में, प्रकृति पर विजय के लिए संघर्ष, सूफियों के तपस्यामय आत्म संयम की अपेक्षा अधिक सहायक होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रकृति से संघर्ष के महत्व पर जोर देते हुए इकबाल कहते हैं, "उसके द्वारा उत्पन्न बाधाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए बौद्धिक प्रयत्न, हमारे जीवन को विस्तृत और

1 Tagore, Ibid p. 111 quoted by Radhakrishnan, p. 94.
2. Tagore,The cycle of spring p. 18 quoted by Radhakrishnan Ibid p. 127.
3. Tagore, Personality p. 12 quoted by Radhakrishnan, Ibid p 131.
4. Tagore, Ibid p. 8 quoted by Radhakrishnan Ibid p. 126
5. Iqbal, op. cit. p. 73

समृद्ध बनाने के साथ साथ हमारी अंतर्दृष्टि को पैना बनाते हैं और इस तरह मानवीय अनुभूतियों के सूक्ष्म पहलुओं में विशेषज्ञता से समाहित करने के लिए हमको तैयार करते हैं।"[1]

ब्रह्मांड के और गहरे ज्ञान का केवल बौद्धिक ही नहीं बल्कि बड़ा आध्यात्मिक मूल्य है। "प्रकृति के अपने अवलोकन में हम वास्तव में निरपेक्ष अहम् के साथ एक प्रकार की घनिष्ठता स्थापित करते हैं, और यह पूजा का एक दूसरा रूप है।"[2] किंतु इकबाल नीत्शे का समर्थन, यह मानने में नहीं करते कि मनुष्य का व्यक्तित्व अच्छे और बुरे से ऊपर है या सामाजिक नियमों के दबाव से मुक्त है। इकबाल के अनुसार व्यक्तित्व का सही विकास स्वतंत्रता, बंधुता और समानता के आधार पर संगठित समाज में दैवी नियमों के पालन करने से ही संभव है। टैगोर के समान इकबाल भी नैतिक जीवन के आधार के रूप में मनुष्यों की एकता के विचार को महत्व देते हैं। वे चरम वास्तविकता की एकात्मकता में से नहीं बल्कि सृजन में से यह विचार प्राप्त करते हैं। सभी मनुष्य एक हैं, इसलिए नहीं कि वे एक चरम सत्ता में समाहित हैं, बल्कि इसलिए कि वे उसी सृष्टिकर्ता के द्वारा उत्पन्न किए गये हैं, एक समान प्रकृति से संपन्न किये गये हैं और जीवन के एक से नियम उन्हें पालन करने पड़ते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का इस नियम की सीमाओं के अंतर्गत विकास, उस बिंदु तक जहां मनुष्य वास्तविकता के रहस्य से प्रवर्तित होता है, प्रकृति की शक्तियों को नियंत्रित करता है, चिरंतन जीवन का अधिकारी होता है, तथा पृथ्वी पर ईश्वर के उप-प्रतिशासक की पदवी के योग्य बनता है नैतिकता तथा कला का आदर्श है।

इकबाल टैगोर से इस बिंदु पर सहमत होते हैं, कि सभी कलाओं का उद्देश्य यथार्थ का अंतदर्शी बोध है। किंतु उनकी कला के कार्यों की धारणा टैगोर की धारणा से बिल्कुल भिन्न हो जाती है। इकबाल के मतानुसार स्व और स्वहीन के बीच के भेद को हटाने के लिए प्रयत्न करने से बहुत दूर होकर, कला के इस भेद पर आगे जोर देना चाहिए अर्थात् मनुष्य के व्यक्तित्व को घनीभूत और पूर्ण करना चाहिए और इस प्रकार उसे अनाशवान बनाना चाहिए। उसे विश्रांति, मृदुलता, मौन स्वीकृति के लिए नहीं बल्कि रचनात्मक व्याकुलता, गतिमय सजीवता तथा भविष्य सूचक उत्साह के लिए अभिप्रेरित करना चाहिए। "कला का उद्देश्य कुछ क्षण चिंगारी की तरह सांस लेना नहीं बल्कि वह जीवन की अनंत ज्वाला है। चाहे वह कवि का गीत या चारण गीत का मधुर संगीत हो, जो फूलों को दुख में परिवर्तित करता है वह प्रातः पवन का झोंका नहीं हो सकता। गिरे हुए राष्ट्र बिना किसी चमत्कार के ऊपर नहीं उठते। सच्ची कला नील में से आश्चर्यजनक काई की छड़ी के समान अपना रास्ता बनाती है।"[3]

इस तरह टैगोर और इकबाल के दार्शनिक विचारों में प्रतिबिंबित आधुनिक शिक्षित

---

1. Ibid p. 15
2. Ibid p. 58
3. Iqbal, Ibid

हिंदू और मुसलमान समुदायों के जीवन दर्शन की एक झलक हमारे सामने है । हम पाते हैं कि भारतीय मस्तिष्क की गहरायी में धार्मिक चेतना की दो धाराएं एक ही स्त्रोत से निकलती हैं और एक ही मार्ग से बहती हैं, जिससे कि उनके बीच का अंतर मालूम करना संभव नहीं है । यह केवल सतह पर विश्लेषणात्मक विचार के स्तर पर आने पर विभिन्न भागों की दो अलग अलग धाराओं में विभाजित होते हैं— जिन्हें हिंदू और मुसलमान धर्मों के नाम से जाना जाता है । किंतु वर्तमान में हम देखेंगे कि वे सामाजिक, नैतिक तथा सौंदर्यपरक जीवन के विस्तृत फैलाव में पुनः मिलते हैं ।

हिंदुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक जीवन के दृढ़ पहलुओं को देखने से, हम पाते हैं कि विगत 200 वर्षों के पृथकतावादी आंदोलनों के बावजूद भी, अधिकांश समान घटक, जो सांस्कृतिक संश्लेषण के आंशिक रूप से कारण और कुछ अंशों में उसके प्रभाव रहे हैं, जो अकबर के समय अस्तित्व में आये, आज भी विद्यमान हैं और आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावों से एक नयी समान आधारभूमि तैयार हो गयी है ।

यद्यपि हिंदुओं और मुसलमानों के नैतिक विचार विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों पर आधारित हैं, फिर भी आंशिक रूप से, उनकी धार्मिक अनुभूतियों की अनुरूपता के कारण और कुछ अंशों में समान भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण उनके व्यावहारिक नैतिक नियम बहुत कुछ एक समान हैं । हम केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करेंगे । ईश्वर के प्रति प्रेम और उपासना के बाद मानवीय संवेदना हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के द्वारा सबसे बड़ा सद्‌गुण माना जाता है । परोपकारिता, समाज सेवा, उदारता, कुटुंबियों के प्रति दया, आतिथ्य—संक्षेप में सभी गुण जो क्रिश्चियन पद हितैषिता के अंतर्गत आते हैं, का दोनों के द्वारा ग्रीकवासियों के चार मूलभूत सद्‌गुणों से अधिक मूल्यांकन होता है । अधिक उल्लेखनीय यह है कि दोनों इन सौम्य सद्‌गुणों को चरम सीमा तक ले जाने में ठीक एक सी प्रकृति दिखाते हैं, जहां उनका पापाचार के रूप में ह्रास हो जाता है । परोपकारिता सेवा और आतिथ्य से अक्सर अच्छे व्यक्तियों का लफंगों या दुष्टों के द्वारा निष्ठुरता से शोषण होता है । उदारता ने केवल व्यावसायिक भिखारी ही नहीं बल्कि विभिन्न प्रकार के परावलंबी उत्पन्न किए हैं । कुटुंबियों के प्रति दया भाई-भतीजेवाद का रूप लेने के लिए, उपयुक्त मुरौव्वत्, एक अरबी शब्द जिसका अर्थ दुर्बल की रक्षा है, एक समय भारतीय चरित्र की सामान्य दयालुता प्रकट करने के लिए उपयोग किया जाता था । अब उसके अर्थ में, कुछ ढीले तरह के उपकार के रूप में परिवर्तन आ गया है ।

सद्‌गुणों का एक दूसरा पक्ष जिन्हें शायद अन्य लोगों की अपेक्षा भारत के हिंदू और मुसलमान अधिक महत्व देते हैं, आत्म संयम, लज्जा और पतिव्रत धर्म है । उनके और पाश्चात्य लोगों के सामान्य और नैतिक नियमों में सबसे स्पष्ट अंतर यह है कि पश्चिम के लोग यौन संबंधी गल्तियों की अपेक्षा संपत्ति के विरुद्ध अपराधों को अधिक गंभीर मानते हैं । भारतीय मुसलमान और हिंदू सामान्य तौर से चोरी की अपेक्षा व्यभिचार के

कर्मों के प्रति अधिक गंभीर रुख अपनाते हैं।

इससे भी अधिक उल्लेखनीय बात है कि हिंदुओं और मुसलमानों के सामाजिक विशेषकर पारिवारिक जीवन में एकरूपता। कोई यह अपेक्षा करता होगा कि मुसलमान जिनका धर्म किसी भी प्रकार के सामाजिक भेदभाव को मान्यता नहीं देता, की कोई सामाजिक वंश परंपरा नहीं होगी, किंतु हम पाते हैं कि उन्होंने अपने को जातिगत तथा वंशानुगत व्यावसायिक समुदायों में विभाजित कर वास्तव में कुछ जाति प्रथा के समान विकसित कर लिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मुसलमानों में एक समूह के दूसरे के साथ जो संबंध हैं उनमें और हिंदू जातियों या उप जातियों के आपस में जो संबंध हैं, उसमें कुछ अंतर है किंतु यह अंतर मात्रा का है, गुणों का नहीं। उदाहरण के लिए यद्यपि विभिन्न सामाजिक समुदायों के रूढ़िवादी मुसलमान भी मुक्त रूप से एक दूसरे के साथ भोजन करते हैं, वैसा करने का उनके हिंदू साथी स्वप्न भी नहीं देखेंगे। वे सामान्य तौर पर परस्पर विवाह नहीं करते।

दोनों समुदायों के पारिवारिक जीवन ठीक एक प्रकार की पद्धतियां प्रकट करते हैं। उनका परिवार पश्चिमी लोगों के परिवारों के समान नहीं होता। एक ओर विवाहित युगल और बच्चों के साथ छोटी इकाई, किंतु दूसरी ओर अधिक बड़ा परिवार, जिसमें दूर के रिश्तेदार भी शामिल हैं, एक घर और अक्सर संयुक्त निधि होती है।

यद्यपि हिंदू धर्मशास्त्र संयुक्त परिवार संपत्ति पर जोर देता है और मुस्लिम शरिया चाहता है, कि वसीयत मरने वाले की पत्नी और बच्चे में विभाजित होनी चाहिए। किंतु व्यावहारिक जीवन में ऐसे बंटवारे बहुत कम पाये जाते हैं। किसी भी रूप में औसत हिंदू या मुसलमान परिवार में एक बजट रहता है, जो पिता या परिवार के सबसे बड़े कमाने वाले व्यक्ति द्वारा नियंत्रित किया जाता है। अक्सर संपूर्ण परिवार चाहे वह बहुत बड़ा हो, एक व्यक्ति की कमाई पर निर्भर करता है, जो मृत्युपर्यंत अपने को गुलामी की स्थिति में रखता है। परिवार के सदस्य एक दूसरे के सुख दुख को आपस में केवल बांट ही नहीं लेते बल्कि प्रत्येक सार्वजनिक या निजी मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार मानते हैं।

अपने बड़ों, विशेषकर माता-पिता की आज्ञा मानना प्रत्येक हिंदू और मुसलमान का पवित्र कर्तव्य है। सामान्य रूप से पति की आज्ञा मानने के लिए पत्नी बाध्य रहती है। मुसलमान और हिंदू परिवारों में महिलाओं की स्थिति करीब करीब एक सी होती है। यद्यपि इस्लाम में महिलाओं को अपेक्षाकृत अधिक अधिकार दिए गए हैं, किंतु व्यवहार में मुसलमान और हिंदू दोनों के परिवारों में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में एक सा नीचा माना जाता है, केवल कतिपय कुलीन परिवारों को छोड़कर। मुसलमान समाज में स्त्री के तलाक में बहुत अधिक कड़ाई बरती जाती है और उनकी शिक्षा की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। अधिकांश स्त्रियां, इस्लाम में उन्हें व्यक्तिगत कानून के अंतर्गत जो अधिकार दिए गये हैं, उससे अनभिज्ञ हैं (ब्रिटिश सरकार के समय जैसा था उसी रूप में

भारतीय गणतंत्र द्वारा मान्य) या वे इतनी असहाय हैं कि वे उसके लिए संघर्ष नहीं कर सकतीं। फिर भी, पिछले दशक में स्थितियों में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। हिंदू महिलाओं में इस परिर्वतन के स्पष्ट संकेत तथा कुछ कम मात्रा में शिक्षित मुसलमान महिलाओं में जो अपने मानवीय सम्मान और अधिकार के लिए सचेत हैं और समाज में उनका अधिकारपूर्ण स्थान बनाने के लिए, कुछ ठोस प्रयत्न, देखे जा सकते हैं। दोनों समुदायों में भोजन, पोशाक और सामान्य रहन-सहन के तरीके उन मामूली मतभेदों को रोकते हैं। विभिन्नताएं हैं, किंतु वे सांप्रदायिक नहीं, क्षेत्रीय हैं। जहां हिंदुस्तानी संस्कृति का प्रभाव अब भी विद्यमान है, विशेषकर उत्तर भारत में हिदुओं और मुसलमानों द्वारा अपनाए जाने वाले जन्म, विवाह और मृत्यु से संबंधित अनुष्ठान और धार्मिक क्रियाओं में बहुत समानता है।

किंतु सबसे मजबूत शक्ति जो हिंदुओं और मुसलमानों को गहनतम भावनात्मक समूह में बांधती है, आज वह है ललित कला, जैसी मुगलकाल में थी। यद्यपि उनकी कला संबंधी दार्शनिक धारणाएं (जैसाकि टैगोर और इकबाल ने बताया) भिन्न हैं, फिर भी उनके हृदय की गहराइयों से उभरकर सामने आने वाली उनकी सौंदर्यपरक अनुभूतियों की एकात्मकता सभी बौद्धिक मतभेदों को बहा ले जाती है। जैसे ही कला की यथार्थता में प्रवेश करती है, भारत माता के सभी पुत्र हिंदू, मुसलमान और अन्य अनुभव करते हैं कि उनके जीवन की एक समानधारा उसी गति से बहती है, उन्हीं तूफानों से उत्तेजित होती है और उसी शांति से सहज बन जाती है। यहां तक कि दूसरे क्षेत्रों के लोग एक दूसरे की भाषा का एक शब्द भी नहीं जानते, हृदय की आम भाषा समझते हैं जो शब्दों के स्थान पर ध्वनि और रंगों का उपयोग करती है। कला की प्रत्येक शाखा में हिंदू और मुसलमान कलाकार वास्तविक बंधुत्व की भावना प्रकट करते हैं, जो भारत की सांस्कृतिक एकता का सबसे उज्ज्वल चित्र है।

जब मुसलमान और हिंदुओं के सांस्कृतिक जीवन के इन सब समान तथ्यों में, हमने आधुनिक पाश्चात्य प्रभाव की एकता स्थापित करने वाली शक्तियों—अंग्रेजी भाषा, प्रजातांत्रिक विचार और प्रथाओं को सम्मिलित कर दिया तब एक सामान्य दृष्टिकोण मन की एक वैज्ञानिक प्रवृति और आर्थिक तथ्यों की अभेद्य व्यूह रचना होती है, जिससे यह निष्कर्ष निश्चित निकलता है कि मुसलमान अल्पसंख्यक सहज ही राष्ट्रीय भारतीय संस्कृति के स्वरूप में समायोजित हो सकते हैं, बशर्ते कि यह संस्कृति स्वस्थ विविधताओं को स्थान दे।

किंतु दुर्भाग्यवश, हिंदू मत के द्वारा प्रमुखता से समर्थित कुछ भारतीय राज्यों की भाषा नीति मुसलमानों के इस भय का कारण बनी, कि बहुसंख्यक समुदाय संस्कृति की एकरूपता की अपेक्षा करता है, जिससे उनकी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के स्वतंत्र रूप से विकसित होने का अवसर अधिक नहीं रहेगा। सन् 1937-47 के दशक की आत्मघाती

पृथकतावादी नीति के परिणाम में मानसिक क्षोभ और जमींदारों के उन्मूलन से उत्पन्न आर्थिक संकट तथा राज्य की सेवाओं में उनके हिस्से में कटौती के कारण, अधिकांश मुसलमान मध्यम श्रेणी जनता में विद्रोह की भावना पैदा हो गयी जिससे संविधान द्वारा सुरक्षित सांस्कृतिक अधिकारों में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के प्रति वे अति संवेदनशील हो गये। हम उनकी विशिष्ट शिकायतों की अगले अध्याय में चर्चा करेंगे किंतु भारतीय मुसलमानों की समस्याओं के बारे में एक शब्द कहना निरर्थक नहीं होगा, क्योंकि बहुत कम गैर मुसलमान यह महसूस करते हैं कि ऐसी समस्या विद्यमान है और यह भी कि वह अत्यावश्यक है तथा शीघ्र समाधान की मांग करती है। मुसलमान मध्यम श्रेणी के लोग कम से कम उत्तर भारत में जीविका के लिए मुख्यता जमींदारी या भागीदारी तथा राज्य सेवाओं पर, दिल्ली सल्तनत की स्थापना से आज के समय तक पूरे साढ़े सात शताब्दियों तक निर्भर करते रहे। अब उनके जमींदारी अधिकार छिन गये हैं और क्रमशः राज्य की सेवाओं में अपना बहुत हिस्सा खो रहे हैं (जो मूल रूप से कुल जनसंख्या में उनकी जनसंख्या के अनुसार प्रतिशत में था)। अधिकांश भुखमरी की संभावनाओं का सामना कर रहे हैं, क्योंकि नौकरी के साधनों में आवश्यकता से अधिक भीड़ हो गयी है। इस बात को स्वीकार करना होगा कि राज्य द्वारा किये गये उपाय यद्यपि न्याय संगत हैं, किंतु मुसलमानों को कठिनाई में डाल दिया है, और यह तथ्य सामने है कि लोगों का एक संपूर्ण वर्ग बदतर स्थिति में आ गया है। यह सही है कि बेकारी की समस्या मध्यम श्रेणी के मुसलमानों तक ही सीमित नहीं है किंतु अन्य किसी समूह की तुलना में उनकी स्थिति अधिक संकटमय है और विशेष ध्यान दिये जाने योग्य है। यह स्वीकार करना चाहिए कि सरकार द्वारा अन्य अल्पसंख्यकों की तरह मुसलमानों की न्यायपूर्ण आर्थिक तथा सांस्कृतिक कठिनाइयों के समाधान के लिए अधिकतम प्रयत्न किये गये हैं। दुर्भाग्य से उसकी नीति उतना प्रभाव नहीं डाल सकी जितना प्रभाव उसे डालना चाहिए था। इसका आंशिक कारण निर्धारित नीति का धीमी गति से कार्यान्वयन रहा, किंतु मुख्य कारण था सांप्रदायिक मुसलमान नेतृत्व का अनुत्तरदायित्वपूर्ण रुख।

हम जिस कथा प्रसंग की विवेचना कर रहे हैं, उस पर इसका प्रभाव यह है कि सबसे महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों की भावना, संयोगवश मानसिक और आर्थिक संकट की दशा में यह है कि उसके सांस्कृतिक अधिकारों का सम्मान नहीं किया जा रहा है। यह भावना देश की प्रगति और सांस्कृतिक एकता के लिए खतरे से आतंकित है और इसे दूर करने के लिए सभी उपयुक्त उपाय किये जाने चाहिएं। किंतु हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि खतरा, जिसका संदर्भ दिया गया है, वह यह नहीं है कि असंतुष्ट मुसलमान पाकिस्तान के साथ मिलकर राजनैतिक षड्यंत्र करेंगे। वे न इस भावना में हैं और न ऐसा करने की स्थितियों में हैं। अधिक संभावना इस बात की है कि उनमें से कुछ देश के अंतर्गत विध्वंसक तत्वों के यंत्र न बन जायें। किंतु वास्तविक और बहुत गंभीर खतरा यह है कि

मुसलमान जिन्होंने प्राचीन समय में समृद्धि प्राप्त की और भारतीय संस्कृति में मूल्यवान योगदान दिया और भविष्य में भी ऐसा करने के योग्य हैं, कहीं उदासीनता तथा निराशा, आलस्य और निष्क्रियता के शिकार न हो जायें और स्थूल भार स्वरूप बन जायें, जिससे देश की प्रगति अवरुद्ध हो जाये। यह स्मरण रखना चाहिए कि मुसलमान, इस भूमि के पुत्र के रूप में बहुत अधिक प्रतिशत में हैं और सबसे पुरानी नस्ल के हैं और कुछ लोग जो बाद में 8 वीं और 16 वीं शताब्दियों के बीच आये, अब उनका पूरी तरह भारतीयकरण हो गया है। इस तरह संपूर्ण समुदाय समाज का एक आधारभूत अंग है, और इस्लाम की पुकार को मानता है, क्योंकि भारतीय आत्मा में उसने कुछ अंदर के तारों को छू लिया है। यदि भारतीय मुसलमान नीचे हो जाते हैं और बाहर निकल जाते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि भारतीय अवयवों के महत्वपूर्ण भाग, जो समन्वयात्मक विकास के लिए आवश्यक गुण प्रदान करते हैं, स्पंदनहीन हो जायेंगे, जो संपूर्ण रूप में खतरनाक होगा।

पूर्व में की गयी विवेचना का समापन करने के लिए :

भारत के विभिन्न भाषा-भाषी तथा धार्मिक संप्रदायों में, जिनमें भारतीय मुसलमान शामिल हैं, बड़ी मात्रा में वास्तविक सांस्कृतिक एकता और एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करने के लिए बड़ी संभावनाएं हैं। किंतु इस राष्ट्रीय संस्कृति का उद्देश्य निरपेक्ष एकरूपता नहीं बल्कि विभिन्न क्षेत्रीय और वर्गीय संस्कृतियों का पूर्ण समन्वय बनाना होगा। आगे इसका आधार विस्तृत करना होगा और समन्वयात्मक पूर्णता प्रदान करने के लिए वैदिक हिंदू संस्कृति परंपराओं, बौद्ध, पौराणिक हिंदू तथा मुगल हिंदुस्तानी संस्कृतियों के उत्तम तत्वों को तथा आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति से जो हमने प्राप्त किया है और प्राप्त कर सकते हैं, को सम्मिलित करना होगा।

15. एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति की ओर

1. भाषायी समस्या

यद्यपि स्वतंत्रता से महत्वपूर्ण राजनैतिक समस्या का समाधान हुआ, किंतु सांस्कृतिक गुत्थी ऐसा प्रतीत होता है कि सुलझने से बहुत दूर रहते हुए और अधिक बिगड़ गयी। स्वतंत्रता के तात्कालिक असर के रूप में पाश्चात्य संस्कृति एवं अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के कम होने के लक्षण दृष्टिगोचर हुए और एकरूपता की परत, जो इन दो तत्वों के द्वारा देश के सांस्कृतिक जीवन पर चढ़ी हुई थी, फटना प्रारंभ हो गयी जिससे क्षेत्रीय संस्कृतियों की विविधता पूर्णतया बाहर आयी। राजकीय भाषा और राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न ने गंभीर मतभेदों को विशेष तौर से बढ़ाया। ऐसा प्रकट हुआ कि हमारी राष्ट्रीय एकता मजबूत होने के बजाय कमजोर होने के खतरे में पहुंच गयी है।

स्वतंत्रता के तत्काल बाद भाषा का विवाद उठाना जोखिम से भरा हुआ था, किंतु उससे बचा नहीं जा सकता था। प्रजातांत्रिक संविधान लागू करने से राजकीय भाषा में परिवर्तन अनिवार्य हो गया। जब तक सत्ता कुछ अंग्रेजों के हाथों में रही, जिन्हें आम जनता की सहमति की आवश्यकता नहीं थी, अंग्रेजी राजकीय भाषा रह सकी। किंतु जैसे ही वास्तविक प्रतिनिधि सरकार की स्थापना हुई, यह स्पष्ट हो गया कि लोगों के साथ निकट के संबंध बनाना तथा उनका विश्वास प्राप्त करना आवश्यक है, और यह उनसे उनकी अपनी भाषा में बोलने से ही संभव था। निहित आशय स्पष्ट था कि सरकारी प्रशासन में प्रचलित अंग्रेजी भाषा को हटाकर उसके स्थान पर अपने अपने क्षेत्र में क्षेत्रीय भाषा को स्थापित करना आवश्यक हो गया है। किंतु उसके साथ ही एक आम संपर्क भाषा की जरूरत थी, जिसका संघीय शासन में, राजकीय कार्यों में, केंद्रीय शासन और राज्यों के बीच तथा एक राज्य से दूसरे राज्य के बीच पत्र-व्यवहार में अंग्रेजी के स्थान पर प्रयोग किया जा सके।

स्वतंत्रता के पूर्व महात्मा गांधी के मार्गदर्शन में इंडियन नेशनल कांग्रेस ने हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य किया था, जिसका आशय स्पष्ट था कि स्वतंत्र भारत में वह केंद्रीय सरकार की भाषा होगी। किंतु जब संविधान निर्माण का समय आया

तब तक परिस्थितियां बदल गयी थीं। तीव्र और लंबी बहस के बाद एक मत के सीमांत बहुमत से, यह तय हुआ कि देवनागरी लिपि में हिंदी संघीय केंद्रीय शासन की राजकीय भाषा होगी। प्रत्येक राज्य को अधिकार दिया गया कि वह कोई भाषा या भाषाएं अपने राजकीय कामकाज के लिए लागू करें।

हिंदी को राजकीय भाषा बनाये जाने के संबंध में उठायी गयी आपत्तियां मुख्य तीन तथ्यों पर आधारित थीं—(1) हिंदुस्तानी की वकालत करने वालों का मत था कि संस्कृत निष्ठ साहित्यिक हिंदी, जहां हिंदी बोली जाती है ऐसे क्षेत्रों में भी बोली जाने वाली भाषा से बहुत भिन्न है और उसको समझने वालों की संख्या तुलनात्मक रूप में कम है। (2) हिंदी नहीं बोलने वाले, विशेषकर वे जो दक्षिण भारतीय भाषाएं बोलते थे, उन्होंने विरोध किया कि यदि हिंदी ने राजकीय भाषा के रूप में शीघ्र ही अंग्रेजी का स्थान ग्रहण किया तो वे केंद्रीय और अखिल भारतीय सेवाओं के लिए हिंदी बोलने वालों के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकेंगे। (3) पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगों ने सामान्य रूप से तर्क प्रस्तुत किए कि न तो हिंदी और न कोई अन्य क्षेत्रीय भाषा, आने वाले लंबे समय तक राजकीय कामकाज चलाने का कार्य संपन्न करने, विशेष रूप से कानून की ऊंची अवधारणाओं तथा न्यायशास्त्र को सूक्ष्मता से व्यक्त करने में, समर्थ हो सकेगी।

इन आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए संविधान में उपयुक्त सुरक्षा के प्रावधान किए गये थे। हिंदी को विस्तृत क्षेत्र में यथासंभव बोधगम्य बनाने के लिए स्पष्ट निर्देश दिये गये थे, कि उसे ऐसा विकसित किया जाये कि हिंदुस्तानी तथा अन्य भारतीय भाषाओं से साधारण और आमतौर से समझे जाने वाले शब्दों, रूपों और शैलियों को सम्मिलित कर लिया जाये। अंग्रेजी से हिंदी में शीघ्र परिवर्तन लाने के खतरों से बचने के लिए यह प्रावधान किया गया था कि अंग्रेजी केंद्रीय संघीय सरकार की 1965 तक राजकीय भाषा रहेगी और यदि आवश्यक हुआ तो उसका उपयोग उस तारीख के बाद भी चलता रहेगा। विधि की भाषा के संबंध में यह निर्णय हुआ कि सुप्रीम कोर्ट, हाई कोर्ट, पार्लियामेंट के विधेयक और अधिनियमों की भाषा के लिए अनिश्चित समय तक अंग्रेजी का उपयोग होगा, जब तक कि पार्लियामेंट एक्ट द्वारा उसे बदला नहीं जाता।

आगे सावधानी के रूप में संविधान में इस उद्देश्य से प्रावधान किया गया कि नयी भाषा नीति को कार्यान्वित करने के पूर्व, इस नीति के विभिन्न पहलुओं के बारे में आम जनता के मत प्रकाश में लाने और विचार करने के लिए राष्ट्रपति की ओर से दो आयोग नियुक्त किये जायेंगे, प्रत्येक पांच वर्ष के अंतर से और तब राष्ट्रपति को सिफारिश की जायेगी कि किस प्रकार की नीति को क्रियान्वित किया जाना है कि जिससे किसी वर्ग के न्यायपूर्ण हितों को आघात न लगे और देश का अधिक से अधिक लाभ हो। इन आयोगों में से प्रथम 1954 में नियुक्त किया गया और उसका प्रतिवेदन 1956 में प्रस्तुत हुआ। उसने सामान्य तौर से संविधान में केंद्रीय संघीय शासन और राज्यों के लिए राजकीय

भाषा के संबंध में किये गये प्रावधानों का ज्यों का त्यों समर्थन किया और उनके क्रियान्वयन के लिए उपयोगी सुझाव दिये ।

यह कहना कठिन है कि सभी भाषायी समस्याओं का शीघ्र सहज समाधान हो जायेगा, फिर भी पिछले दो दशकों में, विशेषकर भाषा आयोग के प्रतिवेदन के प्रकाशन के समय से एक या दो राज्यों को छोड़कर, देश में रचनात्मक चिंतन आ गया है । भाषायी अंध भक्ति का अंत हो रहा है और लोग अपनी भाषायी समस्याएं, आपसी समझ और समझौते की भावना से सुलझाने के इच्छुक प्रतीत होते हैं । यदि भाषा आयोग की सिफारिशों के संदर्भ में संविधान द्वारा मान्य सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं को, अंग्रेजी को एक अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक भाषा के रूप में साथ लेकर अपने अपने क्षेत्र में पनपने दिया जाता है और आम संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के संशोधित रूप को स्वीकार किया जाता है तो नयी राष्ट्रीय संस्कृति बनाने का काम अपेक्षाकृत अधिक सरल हो जायेगा । नयी संपर्क भाषा की मेल कराने की शक्ति, बशर्ते कि वह बोली जाने वाली हिंदुस्तानी के यथासंभव निकट हो, हम आम हिंदुस्तानी संस्कृति के अवशेषों तथा विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं द्वारा प्रदत्त विशाल सामग्री के अच्छे तत्वों से एक नयी राष्ट्रीय संस्कृति बनाने में समर्थ हो सकेंगे ।

2. नये सांस्कृतिक संश्लेषण की समस्याएं

क्षेत्रीय या समूह संस्कृतियों के समान राष्ट्रीय संस्कृति में संश्लेषण भारत के इतिहास में पहले ही तीन बार हो चुका है । पहला आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के विलयन से, इसके बाद हिंदू और बौद्ध का और अंत में हिंदू और मुसलमान संस्कृतियों के विलीनीकरण से । आज हमारे सामने वही समस्या है, किंतु इस बार वह और जटिल है तथा उसके विभिन्न नये पहलू हैं ।

इसके पहले कि हम इसका विवेकपूर्ण समाधान सोचें, हम अर्थहीन मानसिकता से अपने को अवश्य मुक्त कर लें, जो हममें से कुछ को, वैदिक या पौराणिक युगों में व्याप्त सांस्कृतिक जीवन को पुनर्जीवित करने के लिए प्रेरित करती है । इसके लिए उन सभी तत्वों को, जो बाहर से आये हैं, विशेषकर मुस्लिम संस्कृति के तत्वों को अलग करना होगा । ये भारत के बौद्धिक, सौंदर्य परक एवं सामाजिक जीवन में इतनी पूर्णता से समाविष्ट हो गये हैं कि वे पूर्व की भांति भारतीय संस्कृति की नसों में से प्रवाहित होने वाली जीवनरक्त की धारा में प्रवेश कर गये हैं । इन अवयवों को अलग करने के प्रयत्न और रक्त निकालने की प्रक्रिया द्वारा उसे व्यवस्था से बाहर करने में कभी सफल नहीं होंगे । इससे हमारी संस्कृति केवल कमजोर होगी और घातक एनीमिया से पीड़ित होने का कारण बनेगा ।

तब पहली बात जो हमें महसूस करनी होगी वह यह है कि वर्तमान आम संस्कृति

का प्रभावी बाह्य रूप उत्तर भारतीय संस्कृति का प्रभाव है। इसीलिए उसका दक्षिण पर प्रभाव बहुत सीमित है। वास्तव में राष्ट्रीय संस्कृति का रूप लेने के लिए उसे दक्षिण की विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों के उत्तम तत्व सम्मिलित करने होंगे। इसमें अधिक से अधिक सांस्कृतिक संपर्क की आवश्यकता है। इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण कदम पहले ही उठाये जा चुके हैं। केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा 1950 के अंत में, युवा महोत्सव शुरू किये गये, जो प्रति वर्ष शीत ऋतु के प्रारंभ में आयोजित किये जाते थे। वह एक ऐसा अवसर होता था, जब देश के सभी भागों के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी कुछ दिनों तक साथ रहते थे तथा अपने अपने क्षेत्रों के सांस्कृतिक जीवन, अपने संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला और स्थापत्य कला आदि की एक दूसरे को थोड़ी झलक दिखाते थे। इसके पूर्व तीन अकादमी स्थापित की गयीं, एक प्रतिनिधि कलाओं के विकास के लिए, दूसरी संगीत, नृत्य और नाटक के लिए और तीसरी साहित्य के लिए, किंतु ये अकादमियां जो अपने सदस्यों, शिक्षावृत्ति पाने वालों को एक बार कुछ दिनों के लिए एक दूसरे के निकट लाते हैं, अलग अलग समूहों की संस्कृतियों के प्रतिनिधियों को एक दूसरे के साथ स्थायी रूप से निरंतर संपर्क बनाये रखने का का अवसर प्रदान नहीं कर सकती, जो विभिन्न संस्कृतियों के तत्वों के राष्ट्रीय संस्कृति के स्थायी समागम की प्रक्रिया के लिए आवश्यक है। यदि उन्हें गुप्त और मुगलकाल की सांस्कृतिक प्रयोगशालाओं के रूप में कार्य करना है तो उन्हें शिक्षण संस्थाओं का रूप देना होगा। जहां शिक्षार्थी स्थायी रूप से रहते हैं और उदार पेंशन प्राप्त करते हैं, जिससे आर्थिक चिंताओं से मुक्त रहकर पूर्ण हृदय से कला और साहित्य की समान राष्ट्रीय पद्धतियां तैयार करने में अपने को समर्पित कर सकें, जो भारत कहे जाने वाले विशाल भूखंड में रहने वाले विभिन्न लोगों को अनुप्राणित करते हुए, एकता की अंतर्निहित भावनाओं को बाहर अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। विगत कुछ वर्षों में इस दिशा में लिया गया स्वागत योग्य कदम यह है कि नेशनल बुक ट्रस्ट लेखकों के अल्पकालीन शिविर आयोजित करता रहा है, जिसमें विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के लेखक भाग लेते रहे और अपने आदान-प्रदान कार्यक्रम के अंतर्गत, प्रत्येक भाषा की कुछ चुनी हुई पुस्तकों का अन्य सभी भाषाओं में प्रकाशन करते रहे हैं।

एक दूसरा उपाय, जो विभिन्न भाषा-भाषी समूहों को पृथक करने वाले अवरोध को हटाने और उनमें सांस्कृतिक एकता की भावना जागृत करने और प्रेरित करने के लिए लागू किया जा सकता है, वह है बड़े पैमाने पर शिक्षकों का आदान-प्रदान। विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों के बीच परस्पर आदान-प्रदान की पद्धति के अंतर्गत प्रत्येक क्षेत्र से चुने हुए शिक्षकों को, जो विभिन्न भारतीय भाषाएं जानते हैं, अलग अंलग भाषायी क्षेत्रों में पर्याप्त लंबे समय के लिए उदार शर्तों पर सेवाएं देने के लिए प्रेरित किया जा सकता है, जिससे वे क्षेत्रीय संस्कृतियों की भावनाओं में प्रवेश कर उनमें भारत की समान संस्कृति की स्थानीय विविधताओं को पहचान सकते हैं। ये शिक्षक राष्ट्रीय अकादमी के शिक्षार्थियों के समान

राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माता तथा संदेशवाहक सिद्ध होंगे।

सांस्कृतिक संश्लेषण का दूसरा पहलू जिसकी ओर हमारा संकेत है, वह यह है कि हमें अपनी स्वतंत्र इच्छा से, यद्यपि कुछ भेद करते हुए, पश्चिम का सांस्कृतिक प्रभाव स्वीकार करना होगा, जो पूर्व में ब्रिटिश शासन के राजनैतिक तथा आर्थिक दबाव से जबर्दस्ती हम पर लाद दिया गया था। जब तक हम में यह भावना रहेगी कि पाश्चात्य संस्कृति विदेशी शासकों द्वारा हम पर प्रभावित की गयी थी और हमें गुलाम बनाने तथा हमारा शोषण करने का एक साधन थी, तब तक हम उसे कभी पसंद नहीं करेंगे। हममें से कुछ लोग उसके कड़े विरोधी रहे हैं, किंतु स्वतंत्रता के बाद, हमें पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाना होगा और यह देखना होगा कि वह हमें क्या दे सकती है, जो हमारे लिए वास्तविक उपयोग और मूल्य की वस्तु होगी।

यदि हम गत वर्षों में विकास की प्रवृति की समीक्षा करें तो हम पायेंगे कि सभी तीन बुनियादी उद्देश्य जो राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए हमारे समक्ष हैं, धर्म निरपेक्ष प्रजातांत्रिक राज्य, समाजवादी समाज व्यवस्था का समाज और औद्योगिक विकास उन विचारों पर आधारित हैं जो पश्चिम से आये थे। यह सत्य है, कि इन आदर्शों को प्राप्त करने के प्रयत्न में, हम अंधेपन से पश्चिम के अनुयायी नहीं बनना चाहते, बल्कि हमारी बदलती हुई आवश्यकताओं और परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए अपने स्वयं के रास्ते अपनाना चाहते हैं। इसके बाद भी हमें योरोप, अमेरिका तथा समाजवादी दुनिया की राजनैतिक, सामाजिक प्रणालियों का बारीकी से अध्ययन करना होगा और उनसे बहुत-सी बातें सीखनी होंगी। आधुनिक औद्योगिक समाज बनाने के लिए जिन भौतिक साधनों तथा तकनीकी सहायता की जरूरत है उसके लिए विशेष तौर से हमें इन औद्योगिक दृष्टियों से उन्नत देशों की ओर देखना होगा। इस तरह हम यह कह सकते हैं कि हमारे आध्यात्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक जीवन को एक सांचे में ढालने के लिए, शब्द के संकुचित अर्थों में, हम बहुत अंशों में अपनी स्वयं की परंपराओं पर निर्भर करते हैं, किंतु राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन के पुनर्निर्माण के लिए एक बड़ी सीमा तक हम पाश्चात्य सहायता और मार्गदर्शन पर निर्भर करते हैं और हमारा ऐसा करना पूरी तरह न्यायसंगत है।

किंतु यह हमें अपने स्वयं के लिए स्पष्ट कर लेना चाहिए कि यदि हम औद्योगीकरण की अपनी योजना में सफल होना चाहते हैं, तो कुछ सीमा तक हमें हमारे नैतिक मूल्यों के मापदंडों में परिवर्तन लाना चाहिए। कोई भी राष्ट्र जो आर्थिक मूल्यों की, स्थूल भौतिकवाद के रूप में उपेक्षा करता है तो वह औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक बड़ा त्याग और निरंतर प्रयत्न नहीं कर सकता। यदि हम मानव जीवन को महत्व देते हैं, तो मनुष्य को जीवित रखने के लिए आवश्यक भौतिक साधनों की भी कद्र करनी होगी।

यदि हम यह सोचते हैं कि अपने को दयनीय स्थिति से बचाना हमारा पवित्र कर्तव्य है तो इस कार्य के लिए आवश्यक संपत्ति के उत्पादन को उतना ही पवित्र मानना होगा। एक व्यक्ति का शान शौकत के आडंबरों के साधनों से घिरा होना शब्द के घृणित अर्थों में भौतिकवाद हो सकता है, किंतु सहयोगी साथियों के लिए जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने से, जिससे कि वे सम्मान और स्वाभिमान के साथ आराम से जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकें, भौतिकवाद नहीं बल्कि उससे आध्यात्मिकता की उच्चतम ऊंचाइयों पर ले जाने का मार्ग प्रशस्त होता है।

औद्योगिक उन्नति के लिए एक दूसरी आवश्यकता यह है कि हम जीवन के संबंध में अंधविश्वासी और रहस्यवादी दृष्टिकोण को छोड़ दें और आधुनिक विज्ञान को केवल अपनी ज्ञान पिपासा शांत करने के लिए नहीं बल्कि एशिया और अफ्रीका के लाखों लोगों की शक्ति को नष्ट करने वाली भूख के गहरे दर्द को हल्का करने की दृष्टि से भी अध्ययन करें।

इसी प्रकार एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातांत्रिक राज्य तथा समाजवादी समाज बनाने के लिए हमें पश्चिम के समाजवादी देशों से अनेक राजनैतिक एवं धार्मिक प्रणालियां न केवल ग्रहण करनी होंगी और अपनी परिस्थितियों के अनुसार उन्हें अपनाना होगा बल्कि धार्मिक और बौद्धिक सहनशक्ति तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ सामाजिक न्याय की मनःस्थिति बनाने के लिए स्वतंत्र रूप से प्रयत्न करने के संबंध में उनसे शिक्षा लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए, जैसाकि संविधान के निर्माण में किया गया।

किंतु यदि हमारी नयी राष्ट्रीय संस्कृति को व्यापक तथा मजबूत नींव पर निर्मित होना है, तो उच्च और मध्यमवर्गीय संस्कृति जो शहरी क्षेत्रों में सीमित है, को बड़े जनसमूह की ग्रामीण संस्कृति के साथ समन्वय स्थापित करने के लिए हमें संश्लेषण का एक और कार्य संपन्न करना होगा। यद्यपि यह कहते हैं कि उच्च और समृद्धशाली संस्कृति शहरों में ही पायी जाती है किंतु उसकी जड़ें जो उसे जीवन और शक्ति प्रदान करती हैं ग्रामीण भूमि पर गहरायी से जमी हैं। इसलिए स्वस्थ और व्यापक संस्कृति के विकास में यह आवश्यक है कि शहरी और ग्रामीण जीवन के बीच निकट का संबंध रहे और निरंतर वे एक दूसरे के प्रभाव में रहें। भारत में यह एक दूसरे को प्रभावित करने की क्रिया अधिक जरूरी है क्योंकि पिछले 150 वर्षों में बड़े शहरों ने पूर्व और पश्चिम के विविध सांस्कृतिक तत्वों को संग्रहीत किया है किंतु परिवर्तन ग्रहण करने की कमी प्रतीत होती है जो उनमें व्याप्त होकर संपूर्ण रूप में एक सद्‌भावना का रूप दे सकें। यह परिवर्तन आधारभूत सांस्कृतिक मूल्यों के द्वारा लाया जा सकता है, जो अब भी गांवों में गरीबी और अज्ञानता की परतों के नीचे सादगीपूर्ण जीवन में विद्यमान है।

पहले शहरों और गांवों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए छोटे शहरों का उपयोग किया जाता था। किंतु अब आर्थिक परिवर्तन के कारण विशेषकर जमींदारी

उन्मूलन से उनका गांवों के रूप में क्षय हो रहा है और शहरी तथा ग्रामीण संस्कृतियों का संपर्क बहुत कम हो गया है। इस खतरे की सही रोक बुद्धिमत्तापूर्ण औद्योगिक नीति से हो सकती है, जो उद्योगों के कुछ बड़े शहरों में केंद्रित करने के स्थान पर, ग्रामीण क्षेत्रों में विकेंद्रित कर दे और गांवों को मध्यम दर्जे के औद्योगिक नगरों के रूप में विकसित करने में सहायता करें। इस बीच लोक-कला एवं संस्कृति को विकसित करने तथा उसे शहरों में विभिन्न रूपों में फैलाने की, विशेषकर रेडियो और टेलीविजन द्वारा, सरकार जो नीति कार्यान्वित कर रही है, जहां तक चल सके, उपयोगी सिद्ध होगी। किंतु यह आवश्यक है कि शहरी कला और संस्कृति को गांवों की ओर ले जाकर उसी कमी की पूर्ति की जाये। आर्थिक विकास को आगे बढ़ाने के साथ साथ, सफाई और शिक्षा, कला और संस्कृति के प्रचार को हमारी ग्रामीण विकास योजनाओं में स्थान दिया जाना चाहिए। शहरों के कलाकार गांवों में जायें और वहां सौंदर्य तथा रुचि परिमार्जन का ज्ञान फैलायें, जो संस्कृति के पुष्प हैं और गांवों से जीवन के प्रति सामान्य आस्था और मनुष्य के प्रति प्रेम की भावना ग्रहण करें, जो उसके वास्तविक आधार हैं।

किंतु शहरों और गांवों या उच्च तथा मध्यमवर्गीय जनता के सांस्कृतिक जीवन का व्यापक राष्ट्रीय संस्कृति में संश्लेषण संभव नहीं है, जब तक कि हम कला और संस्कृति की संकुचित कुलीन और व्यक्तिपरक धारणाओं से मुक्त नहीं होते जो हमारे मस्तिष्क पर प्रभावी हैं। कुलीनता का जो दृष्टिकोण सामंती युग में विकसित हुआ, वह यह था कि संस्कृति समाज के उच्च वर्ग के लोगों के विशेष जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति है। यह उनके द्वारा उत्पन्न की गयी और वे उसका आनंद ले सकते थे। जहां तक संस्कृति की वैयक्तिक धारणा का संबंध है, वह सिद्धांत पर आधारित है कि संस्कृति मनुष्य के रचनात्मक आवेगों का प्रस्फुटन है और वह ऐसे वातावरण में विकसित होती है जहां ये आवेग बिना किसी रुकावट के अभिव्यक्त हो सकते हैं। वह यह सिद्धांत था जिसने धर्म में असमानता, आर्थिक जीवन में पूंजीवाद और कला में विभिन्न मोहक और अबुद्धिमत्तापूर्ण शैलियों को जन्म दिया। हमारे द्वारा यहां विस्तार से इन विचारों की चर्चा किया जाना जरूरी नहीं। इतना कहना ही पर्याप्त है कि यदि हम प्रजातांत्रिक समाजवादी समाज व्यवस्था पर विश्वास करते हैं, तो हम संभवतः संस्कृति की कुलीनतावादी एवं वैयक्तिक धारणाओं को स्वीकार नहीं कर सकते। संस्कृति को एक वर्ग विशेष का विशेषाधिकार मानना प्रजातंत्र की आत्मा के विरुद्ध है और किसी व्यक्ति को उसकी विशिष्टता की अभिव्यक्ति की अनुमति देना, ऐसी स्थिति में भी जबकि वे समाज के लिए हानिकर हैं, समाजवाद को अस्वीकार करना है। स्वतंत्रता और समानता के उपयुक्त संतुलन पर आधारित समाज में संस्कृति को सार्वलौकिक मानवीय मूल्यों की समन्वयात्मक अभिव्यक्ति मानना चाहिए जो सभी व्यक्तियों, ऊंचे या नीचे, धनवान या गरीब तथा सभी की पहुंच के अंतर्गत हैं, लागू होते हैं। इसी तरह व्यक्ति को कला और

संस्कृति के निर्माण में अपनी बुद्धि का उपयोग करने का विस्तृत अवसर दिया जाना चाहिए, किंतु इसके साथ ही ऐसी रचना के लिए निरुत्साहित किया जाना चाहिए जो समाज के व्यापक हित में नहीं। इससे सच्ची कला की उत्पत्ति में बाधा उत्पन्न नहीं होगी, बल्कि सहायता मिलेगी।

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य कलाकार पर अनुचित दबाव डालें कि वह कला और संस्कृति के द्वारा सरकारी या सामान्य कानून के उल्लंघन को रोकने तक ही सीमित रहे। इसके बाहर जाना और राज्य को लोगों के सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार देना तथा उसके उद्देश्य या किस कार्य पद्धति का अवलंबन हो, निर्धारित करना, स्वतंत्रता का गला घोंटना होगा और बिना स्वतंत्रता के कला एवं संस्कृति का बहुमुखी विकास असंभव है। प्रजातांत्रिक समाज में कला और संस्कृति को निर्देशित तथा नियंत्रित करने का कार्य केवल जनमत को सौंपा जा सकता है। कल्याणकारी राज्य, भारत में जिसकी स्थापना के लिए हम प्रयत्नशील हैं, को सांस्कृतिक संस्थाओं तथा कलाकारों को व्यक्तिगत रूप से आर्थिक सहायता देकर, कला और संस्कृति को प्रोत्साहित करना, अपना कर्तव्य मानना चाहिए, किंतु इसे उनका विचार और क्रियाओं की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने तथा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दोहन करने का साधन नहीं बनाना चाहिए। फिर भी सांस्कृतिक जीवन पर राज्य के नियंत्रण के लिए कुछ उपाय आवश्यक हैं। राज्य को ऐसे कानून बनाने का अवश्य अधिकार होना चाहिए जिससे देश की सांस्कृतिक धरोहर को टूट-फूट या विनाश से बचाया जा सके। उदाहरण के लिए, दुर्लभ पुस्तकों तथा कला वस्तुओं को देश के बाहर जाने से रोकने के लिए ऐतिहासिक भवनों या स्थापत्य कला की रुचिकर अन्य वस्तुओं को हानि पहुंचाने वालों को दंडित करने तथा अश्लील पृथकतावादी या क्रांतिकारी पुस्तकों, चित्र, फिल्म आदि को प्रतिबंधित करने के लिए कानून बनाना चाहिए। ऐसे नियंत्रणों की सीमाएं निर्धारित करने के लिए स्पष्ट रेखाएं खींचना कठिन है, किंतु विस्तृत रूप से कहा जा सकता है कि सत्ताधारी दल या कोई एक दल के द्वारा समुदाय या वर्ग विशेष के हित में नहीं बल्कि जन समाज के हित में या जनता की नैतिकताओं की सुरक्षा के लिए इन कानूनों का उपयोग होना चाहिए।

अभी तक जो कहा गया है उसके निष्कर्ष में, इतिहास का चक्र हमें पुनः उस बिंदु पर ले आया है, जहां अपकेंद्रीय शक्तियां कार्यरत हैं और खतरा उत्पन्न हो गया है कि देश को सांस्कृतिक विघटन का सामना करना होगा, जिससे राजनैतिक अराजकता उत्पन्न होगी और उसके बाद विदेशी सत्ता आ सकती है। हमें इस समस्या का समाधान करना होगा, जैसाकि पूर्व में समाधान हुआ। अर्थात् क्षेत्रीय एवं समूह संस्कृतियों को सुरक्षित रखते हुए, उसके साथ नयी राष्ट्रीय संस्कृति उत्पन्न की जाये, जो हमारी भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं में एकता स्थापित करे और उससे हम देश की स्वतंत्रता तथा एकता के प्रति आशान्वित हों। इसे प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका है पुनरुत्थान के विचार को

त्याग देना, और हमारी आम हिंदुस्तानी संस्कृति के जो अवशेष बचे हैं, उन पर राष्ट्रीय संस्कृति की नींव स्थापित करना और विभिन्न क्षेत्रों की ग्रामीण और शहरी संस्कृतियों तथा पाश्चात्य संस्कृति से अच्छे तत्व प्राप्त कर उस पर मुक्त रूप से राष्ट्रीय संस्कृति का भवन निर्मित करना। यह सांस्कृतिक संश्लेषण राष्ट्र भाषा के साथ प्रारंभ हो, क्योंकि भाषा संस्कृति की आत्मा है।

विविधता में एकता सदैव भारतीय संस्कृति का विशिष्ट गुण रहा है। नयी संस्कृति के निर्माण के अपने प्रयत्न में हमें इसे एक उद्देश्य बनाना चाहिए। यदि हम सफल होते हैं तो हम केवल अपनी समस्या का समाधान नहीं करेंगे, बल्कि हमारा उदाहरण दुनिया की आज की सबसे महत्वपूर्ण समस्या के समाधान में सहायक हो सकेगी, अर्थात् राष्ट्रों की विविधता में मनुष्यों की पारस्परिक एकता स्थापित करना है।

जहां तक सामाजिक जीवन का संबंध है, इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतंत्रता ने हमारी कुछ आवश्यक समस्याएं हल कर दी हैं, किंतु उसने कुछ नयी समस्याओं को भी जन्म दिया है। स्वतंत्रता के पूर्व और बाद की सामाजिक परिवर्तन की प्रवृतियों में मुख्य अंतर यह है कि पूर्व में सुधार के प्रवक्ताओं ने समाज के सामान्य ढांचे में परिवर्तन लाये बिना व्यक्ति के सुधार का अपना उदार दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। किंतु स्वतंत्रता के पूर्व उदार प्रजातंत्र की समरूपता ने पारंपरिक सामाजिक पद्धतियों में कुछ परिवर्तन आवश्यक बना दिया। अब जब स्वतंत्र भारत ने उसके औद्योगिक समाज के लिये समाजवादी समाज व्यवस्था स्थापित करने का निश्चय किया है, तब समाज में बुनियादी परिवर्तन लाना अनिवार्य हो गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इससे अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होगीं, किंतु परिवर्तन को रोकने के लिए व्यर्थ का प्रयत्न करने के बदले हमें कठिन समस्याओं का दृढ़ता से सामना करना चाहिए और उनके समाधान खोजने चाहिएं।

सामाजिक सुधारों के लिए तात्कालिक आवश्यकताओं जैसे महिलाओं की मुक्ति, अस्पृश्यता की समाप्ति तथा उत्तराधिकार और विवाह के नियमों को उदार बनाना, गत शताब्दी के प्रारंभ में कुछ प्रबुद्ध भारतीय नेताओं द्वारा महसूस किया गया। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, सार्वजनिक सभा तथा सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी द्वारा चलाये जा रहे प्रगतिशील, धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलनों के प्रयत्न इन सुधारों की ओर ही जा रहे थे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद महात्मा गांधी ने रचनात्मक कार्यक्रम प्रारंभ किया, जिसका सामाजिक सुधार विशेषकर अस्पृश्यता निवारण एक अनिवार्य धर्म था। उन्होंने अछूतों को सम्मानजनक नाम 'हरिजन' दिया और उनके लिए हिंदू जाति के बराबर के सामाजिक और धार्मिक अधिकार तथा आर्थिक और राजनैतिक सुरक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इन सब आंदोलनों के परिणामस्वरूप सामाजिक सुधार के विचार समाज के एक बड़े अंग में फैल गये, और लोगों के जीवन पर प्रभाव डालना प्रारंभ कर दिया। शिक्षित जनता के मत के दबाव से ब्रिटिश सरकार ने भी, जो तत्काल राजनैतिक

आवश्यकता का मामला होने के कारण रुढ़िवादियों के पक्ष में थी, कुछ समाज सुधार के उपाय जैसे शिशु विवाह रोकना और हरिजनों को मंदिरों में प्रवेश का अधिकार देने आदि के वैधानिक कदम उठाये।

जैसाकि हमने पूर्व में बताया कि स्वतंत्रता के पहले जिस भावना ने समाज सुधार के आंदोलनों को अनुप्राणित किया वह मनुष्य की आजादी और प्रतिष्ठा के प्रति सम्मान था। सुधार की वकालत करने वाले चाहते थे कि लिंग, जाति या वर्ग संबंधी बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक व्यक्ति को आत्म विकास तथा अभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिले। वे सामान्य तौर से यह विश्वास करते थे कि सामाजिक ढांचे में कोई बुनियादी परिवर्तन लाये बिना यह किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उन्होंने सोचा कि यह आवश्यक या वांछनीय नहीं है कि जातिप्रथा या संयुक्त परिवार पद्धति को समाप्त कर दिया जाये, जिस पर हिंदू समाज का ढांचा अवलंबित है। इन पद्धतियों द्वारा लागू किये गये कुछ बंधनों को शिथिल करने मात्र से उनके उद्देश्य की पूर्ति हो जायेगी। किंतु तथ्य यह था कि एक ओर जाति के द्वारा दूसरी ओर संयुक्त परिवार पद्धति से सीमित हो जाने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त स्वतंत्रता नहीं मिलती थी या आत्मविकास तथा अभिव्यक्ति का अवसर नहीं मिलता था। इसलिए कुछ साहसिक सुधारकों ने जातिप्रथा को चुनौती दी और उसे समाप्त करने के लिए अभियान चलाया। जहां तक संयुक्त परिवार पद्धति का संबंध है, उसके विरोध के लिए कोई संगठित आंदोलन नहीं था, किंतु असंतोष के चित्र दृष्टिगोचर होते थे और खुले विद्रोह की घटनाओं की कोई कमी नहीं थी।

स्वाभाविक है कि स्वतंत्रता के आगमन से समाज सुधार को गति मिली और सरकार तथा निजी प्रतिष्ठानों के संयुक्त प्रयास से उसकी प्रगति को गतिशील बनाया। जहां तक वैधानिक प्रावधानों का संबंध है हमारे संविधान ने पुरुष और स्त्री, हरिजन और हिंदू जाति को समान अधिकार दिए हैं तथा हमारी संसद ने विवाह और उत्तराधिकार के संबंध में अनेक उदार और प्रगतिशील कानून बनाये, किंतु व्यवहार कानून से बहुत पीछे रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार ने इन कानूनों को लागू करने के लिए जो कर सकते थे वह सब किया। हरिजनों को शिक्षा प्राप्त करने तथा नौकरी में विशेष छूट दी जाती है। महिलाओं को उनके गुणों के अनुसार पद और सम्मान दिया जाता है। न्यायालय, विवाह और उत्तराधिकार के मामलों में पूरा न्याय करते हैं। किंतु समाज में पुराने पूर्वाग्रह कायम हैं और असमानता तथा अन्याय पहले की तरह होते रहते हैं। उन्हें जड़ से उखाड़ना न्यायालय के अधिकार में नहीं है, किंतु उसके लिए सुधार के उत्साह और मिशनरी प्रयत्न की आवश्यकता है। सांस्कृतिक जीवन की तरह सामाजिक जीवन में सुधार और प्रगति केवल राज्य और जनता के सहयोग से हो सकती है, किंतु परिभाषित करने तथा उनके कार्यक्षेत्र की सीमाएं तोड़ने में सावधानी अवश्य करनी होगी।

सामान्य सिद्धांत के रूप में हम कह सकते हैं कि सामाजिक सुधार क्रमशः विभिन्न

अवस्थाओं में कार्यान्वित करना चाहिए —

(1) सामाजिक सुधार की वकालत करने वाले व्यक्ति या संस्थाएं पहले वांछित परिवर्तन लाने के लिए जनमत तैयार करें।

(2) जब लोग संपूर्ण रूप से सहमत हों, विरोध केवल हठधर्मी या न्यस्त स्वार्थों तक ही सीमित रह गया हो, तब सरकार को परिवर्तन लाने के लिए वैधानिक कदम उठाने चाहिएं।

(3) इसके बाद जिन संस्थाओं ने सुधारों को प्रवर्तित किया है, उन्हें नये कानूनों और उनको लागू करने संबंधी प्रावधानों को प्रचारित करने के लिए सरकार की सहायता करनी चाहिए।

इसलिए सामाजिक सुधार के कार्य में संलग्न राज्य की अपेक्षा निजी अभिकरणों तथा व्यक्तियों को अधिक बड़ा भार वहन करना पड़ता है। देश जिस संक्रमण काल से गुजर रहा है, उसमें उनके दोहरे कार्य हैं। उन्हें यह देखना होगा कि समाज सुधार के उपायों, जिन्हें जनमत का समर्थन प्राप्त है और कानून की स्वीकृति प्राप्त हो गयी है जितना शीघ्र संभव हो सके कार्यान्वित किया जाना चाहिए तथा लोगों को समाज के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन लाने के लिए तैयार भी करना चाहिए।

जैसाकि हमने प्रारंभ में बताया कि जो परिस्थितियां हमें इन परिवर्तनों की ओर ले जा रही हैं, राजनैतिक स्वतंत्रता के सीधे परिणाम हैं। यहां हम उनमें से दो का संदर्भ देंगे। प्रथम संविधान द्वारा प्रदत्त मानवीय अधिकार कम-से-कम शिक्षित व्यक्तियों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व की चेतना उत्पन्न कर रहे हैं। दूसरा जैसाकि औद्योगिक विकास की प्रारंभिक अवस्था में हमेशा होता है, जीवन निर्वाह व्यय समान रूप से अधिकांश लोगों की आय में वृद्धि के बिना बढ़ता जाता है। ये दो तथ्य मिलकर प्रत्येक प्रौढ़ स्त्री और पुरुष और कुछ मामलों में बच्चों पर भी दबाव डालते हैं कि वे परिवार का आश्रित जीवन छोड़ दें तथा अपने जीवन निर्वाह के लिए कार्यालयों, दुकानों या कारखानों में काम करें। परिणामस्वरूप बड़ी संयुक्त परिवार इकाइयां छोटी इकाइयों में, जिसमें पति-पत्नी और बच्चे शामिल रहते हैं, टूट रही हैं। इसके अतिरिक्त पुरुष और स्त्रियों की संख्या जो देर से विवाह करते हैं या बिल्कुल ही विवाह नहीं करते, बढ़ रही है। इसके साथ ही लोग गांवों से शहरों में स्थानांतरित हो रहे हैं। ये परिवर्तन नयी समस्याओं को जन्म देते हैं। उदाहरण के रूप में अकेली असुरक्षित कामकाजी लड़कियों द्वारा अनुभव की जा रही सामाजिक तथा नैतिक कठिनाइयां, जिन बच्चों के माता-पिता दोनों काम पर जाते हैं उनके पालन-पोषण की समस्या, वृद्ध स्त्री और पुरुषों की समस्या, जिनके देखभाल के लिए उनका अपना कोई नहीं है, रिहायशी मकानों की कमी, झोपड़ियों की संख्या बढ़ना और लोगों की नैतिकता तथा स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव। समाज सुधारकों में इन परिवर्तनों से इन तीन में से किसी एक तरीके से प्रतिक्रिया हो सकती है। औद्योगिक

विकास का पूरी तरह विरोध कर सकते हैं या ऐसी प्रगति के बाद भी प्राचीन सामाजिक ढांचे को बरकरार रखने के लिए संघर्ष कर सकते हैं और इस ओर ले जाने वाले परिवर्तनों को रोक सकते हैं या औद्योगीकरण तथा उनके परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार करते हुए उनके द्वारा उत्पन्न की हुई समस्याओं के समाधान का प्रयत्न कर सकते हैं।

हमारे देश में औद्योगिक प्रगति के प्रबल विरोधी हैं। वे ऐसे लोग हैं जो यह सोचते हैं कि भौतिक आराम आध्यात्मिक सिद्धि तथा तपस्वी जीवन या कम से कम एक मितव्ययिता के जीवन के लिए बाधा है। चूंकि औद्योगिकं प्रगति का पूरा उद्देश्य भौतिक आराम के लिए अधिकतम साधन उत्पन्न करना है, अतः उनका औद्योगीकरण कां विरोध समझ में आने योग्य है। किंतु काफी आश्चर्य की बात यह है, कि इनमें से अधिकांश समाज सुधारक औद्योगिक विकास को गरीबी और बीमारियां हटाने का एकमात्र रास्ता तथा समाज का नैतिक और आध्यात्मिक स्तर ऊंचा उठाने का प्रयत्न मानते हैं। फिर भी वे समाज व्यवस्था में किसी भी बुनियादी परिवर्तन को रोकने की आशा करते हैं और उन खतरों से बचते हैं जिनका उल्लेख किया गया है। सभी औद्योगिक देशों का इतिहास दर्शाता है कि औद्योगीकरण से सामाजिक ढांचे में परिवर्तन अनिवार्य हो गया और उससे बचने के लिए सभी प्रयत्न व्यर्थ थे। इस तरह एकमात्र विवेकपूर्ण तथा रचनात्मक तरीका ऐसा प्रकट होता है कि यदि हम औद्योगिक दृष्टि से उन्नत समाज बनाने का प्रयत्न करते हैं, तो बहुत मात्रा में परिवर्तन और उनसे उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सामना करने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। अन्य देशों ने इन समस्याओं का सामना किया है और बुद्धिमत्तापूर्ण योजना सामाजिक विधान तथा समाज कल्याण एवं सुधार के आंदोलनों के द्वारा उन समस्याओं को हल करने में सफलता पायी है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि हम उनके उदाहरण से लाभ नहीं उठा सकते। हम अपनी परिस्थितियों में उपयुक्त उपाय कार्यान्वित करें तथा औद्योगिक प्रगति के अवांछनीय सामाजिक परिणामों से बचें।

किंतु समान संस्कृति तथा समान आदर्श के साथ एक प्रजातांत्रिक समाज स्थापित करने के लिए हमें हमारी शिक्षा में प्रजातंत्र की भावना भरनी होगी और उसे समन्वित पूर्णता की तरह संगठित करना होगा। इनमें से प्रथम उद्देश्य यह मांग करता है कि सभी लड़के और लड़कियां बिना किसी वर्ग या जाति भेद के निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था के अंतर्गत शिक्षित किये जायें तथा सभी कुशाग्र बुद्धि के बच्चों को बराबरी से उच्च शिक्षा का अवसर दिया जाये। दूसरे उद्देश्य में यह निहित है कि सामान्य और व्यावसायिक शिक्षा तथा धर्म निरपेक्ष और धार्मिक शिक्षा के बीच की खाई कम से कम प्राथमिक स्तर पर भरनी चाहिए तथा एक समान समन्वित बुनियादी शिक्षा की पद्धति सभी बच्चों के लिए लागू की जानी चाहिए।

जहां तक प्रथम उद्देश्य का संबंध है, हमारे संविधान में यह दिया गया है कि संविधान

लागू होने से 10 वर्षों के अंदर अर्थात् 1960 तक, 6 से 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को अनिवार्य रूप से निःशुल्क शिक्षा दी जानी चाहिए। किंतु यद्यपि केंद्रीय सरकार तथा कुछ राज्यों ने सभी स्तरों पर शिक्षा के विस्तार के क्षेत्र में बहुत कार्य किया है, तो भी हम अब भी अनिवार्य शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति करने में बहुत पीछे हैं। जहां तक उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अवसर की समानता का प्रश्न है स्थिति अब भी अपेक्षाकृत संतोषजनक है। स्पष्ट है कि गरीब परिवारों के बच्चे प्राथमिक शिक्षा से आगे सरकार द्वारा दी जाने वाली छात्रवृत्ति की सहायता से ही, जा सकते हैं। किंतु सरकार ने हरिजन और पिछड़ी जाति के बच्चों को तथा विशेषकर कमजोर वर्ग के बुद्धिमान बच्चों को बहुत सी छात्रवृत्तियां दिए जाने के अतिरिक्त इस दिशा में अब तक बहुत कम कार्य किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 6 से 14 वर्ष की उम्र के समूह में सभी को निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा देने तथा साथ ही सभी योग्य कुशाग्र बुद्धि बच्चों को स्कूल और विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्ति देने हेतु बड़ी मात्रा में आर्थिक साधनों की जरूरत है। कोई भी सरकार इतना अधिक धन प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकती, जब तक कि स्थानीय संस्थाओं और आम जनता के द्वारा उसकी सहायता न की जाये, किंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि जब तक हम प्रत्येक बच्चे को सबसे उत्तम शिक्षा, जो उपलब्ध है, नहीं देते, प्रजातांत्रिक समाज व्यवस्था की हमारी चर्चा अर्थहीन होगी। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है, कि बहुत आशा की जा सकती है कि भविष्य की विकास योजनाओं में, अभी तक की स्थिति की तुलना में, शिक्षा को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जायेगा।

जहां तक समन्वित शिक्षा की समस्या का संबंध है, स्वतंत्रता के तुरंत बाद उस पर बहुत कम विचार किया गया था। केवल महात्मा गांधी में यह देखने की दूर दृष्टि थी कि प्रारंभिक अवस्था, शिक्षा का बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा व्यवसायिक विभाजन तथा ये तीन प्रकार की शिक्षा के लिए अलग संस्थाओं के रहने से हमारे बच्चों का एक तरफा दोषपूर्ण विकास हुआ है। इसने उन्हें समन्वित समाज के रूप में विकसित होने में सहायता नहीं की या उन्हें इस योग्य नहीं किया कि अपने पूर्ण व्यक्तित्व में ऊपर उठ सकें। इसलिए उन्होंने शिक्षा की प्राथमिक अवस्था पर हाथ, मस्तिष्क और हृदय के समन्वयात्मक विकास पर सबसे अधिक जोर दिया। नीचे दिये हुए अंश से कुछ प्रकट होगा कि गांधी जी का शिक्षा से क्या तात्पर्य था।

"मेरा यह निश्चित मत है कि सही बौद्धिक शिक्षा केवल शारीरिक अवयवों हाथ, पैर, कान, नाक आदि के उपयुक्त अभ्यास और प्रशिक्षण के माध्यम से आ सकती है। दूसरे शब्दों में, बच्चे के शरीर के अवयवों के बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग से उसके बुद्धि के विकास का उत्तम और सबसे गतिशील तरीका बनता है। किंतु जब तक मस्तिष्क और शरीर का विकास साथ साथ नहीं चलता और आत्मा जागृत नहीं होती तो केवल मस्तिष्क का विकास कमजोर एक तरफा कार्य सिद्ध होगा। आध्यात्मिक प्रशिक्षण से मेरा तात्पर्य

हृदय की शिक्षा से है। इसलिए मस्तिष्क का उपयुक्त और चहुंमुखी विकास तभी हो सकता है जब वह बच्चे की शारीरिक और आध्यात्मिक योग्यता की शिक्षा के साथ आगे बढ़ता है। वे अविभाजित संपूर्ण की रचना करते हैं। इसलिए इस सिद्धांत के अनुसार यह मानना पूरी तरह भ्रामक होगा कि उनको अलग अलग हिस्सों में या एक दूसरे को स्वतंत्र रूप से विकसित किया जा सकता है।

गांधी जी ने अपनी शिक्षा की धारणा को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए शिक्षा विशेषज्ञों की सहायता ली। उन्होंने उस सिद्धांत के अनुसार बुनियादी शिक्षा की योजना तैयार करने को कहा कि जिसमें सभी ज्ञान, कार्य कुशलता और क्रियाएं जो बच्चे की शिक्षा के लिए आवश्यक मानी गयी थीं, किसी उपयोगी हस्तशिल्प पर केंद्रित हों तथा संपूर्ण प्रक्रिया सत्य और अहिंसा पर आधारित सामाजिक और नैतिक दर्शन की मूल भावना के साथ फैले। भारत सरकार ने भी बुनियादी शिक्षा की योजना को कुछ बचाव के साथ स्वीकार किया और चाहा कि पूरी प्राथमिक शिक्षा को क्रमशः यह रूप दिया जाये।

किंतु भारत सरकार और कुछ राज्य सरकारों द्वारा बुनियादी शिक्षा योजना की स्वीकृति आधे मन से थी और कभी उस भावना से कार्य नहीं किया गया, जैसी कि कल्पना की गयी थी। इसलिए स्वाभाविक रूप से यह योजना अव्यावहारिक पायी गयी तथा त्याग दी गयी। हाल ही में भारत सरकार के शिक्षा विशेषज्ञों ने गहरायी से विचार किया है कि शिक्षा पद्धति को सबसे बाद की शिक्षा अवधारणाओं पर आधारित अन्य पद्धतियों के अनुसार बनाया जाये। आइये प्रतिज्ञा करें और देखें कि उनके पास बहुत थोड़े साधनों के साथ वे कहां तक सफल हो सकते हैं।

जब सब कह दिया गया और कर दिया गया तो राष्ट्रीय संस्कृति तथा भारतीय राष्ट्रीयता की वास्तविक समस्या यह है कि भारत सबसे प्राचीन मनुष्यों का एक घर है और उसके साथ ही आधुनिकता के अर्थ में सबसे छोटे राष्ट्रों में एक है। देशवासी के रूप में भारतीयों ने दृढ़ता से समयबद्ध परंपराओं पर आश्रित, जीवन की एक पद्धति बनायी है। एक राष्ट्र के रूप में वे आधुनिक युग के प्रवाह और झोंकों, तूफान और दबाव से प्रभावित होते हैं। वे अपना नौबंध छोड़ना और उसके द्वारा बह जाना नहीं चाहते, जो उन्हें निर्मम और उद्देश्यहीन वर्तमान का उफनता प्रचंड ज्वार मालूम पड़ता है, किंतु वे महसूस करते हैं कि स्वतंत्र प्रजातांत्रिक राज्य को चुनने के बाद, पैसिफिक में प्राचीनता के स्थिर छिछले जल में चिपके नहीं रह सकते। इसलिए उन्हें स्थिर और गतिशील, प्राचीन और नये के बीच संतुलन बनाना होगा।

यह एक वास्तविक मुद्दा है जिसका अंतिम विश्लेषण में सामना करना होगा। किंतु इसके पूर्व कि इस समस्या को सुलझाया जा सके, अधिक महत्वपूर्ण मुद्दे समूह संस्कृतियों की विविधता में, समाज राष्ट्रीय संस्कृति की आधारभूत एकता के साथ समन्वय स्थापित

करने का समाधान करना होगा। पूर्व के पृष्ठों में समस्या के समाधान में, जितना साफ तौर से विवरण देना संभव था, उसके महत्व पर जोर देते हुए और कुछ व्यावहारिक सुझाव देते हुए, एक विनम्र योगदान किया गया है। किंतु वास्तविक समाधान में सभी बौद्धिक एवं राजनैतिक नेताओं के प्रयत्नों की आवश्यकता है, जिनका कर्तव्य और विशेषाधिकार भारत के इतिहास की इस संक्रमण अवस्था में प्रारब्ध के संदर्भ में दिशा निर्देश करना है। यदि हम उन्हें सहमत करने में सफल होते हैं कि सांस्कृतिक समस्या जिसका सामना भारत कर रहा है, राजनैतिक तथा आर्थिक समस्या से कम महत्व की नहीं, तो हमारा कार्य पूर्ण हो जायेगा।

अनुक्रमणिका

मुद्रक:
जे. जे. ऑफसेट प्रिन्टर्स 7, वजीरपुर प्रिंटिंग प्रैस ऐरिया, दिल्ली - 110 035.